मोतीमाला का बारहवाँ रत्न

कलरव

सम्पादक

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'

प्रकाशक

मोतीलाल बनारसीदास

हिन्दी-संस्कृत पुस्तक-विक्रेता

सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर

तृतीय संस्करण] सन् १९४० [मूल्य २)

प्रकाशक
सुन्दरलाल जैन, मैनेजिंग
प्रोप्राइटर, मोतीलाल बनारसीदास
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर ।

मुद्रक
शान्ति लाल जैन
बम्बई संस्कृत प्रेस
शाही मुहल्ला, लाहौर ।

कलरव सूची

पृष्ठ संख्या

परिचय

कविता की परिभाषा

कविता को मैं पहचानता हूँ। अपने जीवन के १६ वें वर्ष से मेरी उससे घनिष्ठ मित्रता है, किन्तु आज भी मैं उसकी परिभाषा नहीं लिख सकता। वह मेरे हृदय के इतने निकट है कि यह जानने की मुझे कभी इच्छा नहीं हुई कि वह है क्या? जिन आँखों ने या हृदयों ने इसे आलोचक या परीक्षक की दृष्टि से देखा है उन्होंने इसके रूप-रंग को देख कर परिभाषाएँ लिखी हैं।

कोई इसे आत्मा की कला कहता है। कोई कहता है 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं', अर्थात् रसात्मक, रसमय वाक्य ही काव्य है। कोई कहता है 'कविता मनुष्य के हृदय की अनुभूति है।' कोई कहता है 'कविता कागज़ पर निकाल कर रख दिये जाने वाले व्यथित-हृदय का ही दूसरा नाम है।' कोई कहता है 'जीवन के सत्यान्वेषण में जो स्फूर्ति, जो प्रेरणा छन्द-बद्ध हो जाय, वही कविता है।' पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने एक जगह कहा है, "कविता के सम्बन्ध में मेरी धारणा बराबर यही रही है कि वह एक ऐसी साधना है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह तथा उसके दृश्य का प्रसार और परिष्कार

होता है। जब तक कोई अपनी पृथक् सत्ता की भावना को ऊपर किए जगत् के नाना रूपों और व्यापारों को अपने व्यक्तिगत योगक्षेम, हानि-लाभ, सुख दुःख आदि से सम्बन्ध करके देखता रहता है, तब तक उसका हृदय बद्ध रहता है। इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूट कर—अपने आपको बिल्कुल भूल कर—विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त हृदय हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है—वही कविता है।

इन परिभाषाओं को पढ़कर कोई साहित्य के मेले में कविता की पहिचान करने निकले तो शायद धोखे में किसी और ही चीज़ को पकड़ ले। अनन्त गुण परिपूर्ण ब्रह्म की भाँति कविता का भी अनन्त रूप-गुण हैं। जिसने उसे जिस रूप में देखा, उसने उसकी वही परिभाषा कर दी। "ब्रह्म क्या है?" इस प्रश्न को मैंने उपनिषदों से भी पूछा है और उन्होंने जो कुछ उत्तर दिया है, उसे समझने का मैंने प्रयत्न किया है, किन्तु उस 'अरूप' के 'रूप' की तस्वीर आँखों में, हृदय में, या आत्मा में उतार लेना सम्भव नहीं हुआ है। 'वह है', 'वह मेरा है', 'मैं उसका हूँ', 'वह मुझ में है' और 'मैं उसमें हूँ', आदि बातों की अनुभूति अवश्य होती रहती है, परन्तु उसे सम्पूर्ण रूप से देखा नहीं जा सकता और देखा भी जावे तो उस झाँकी को संपूर्ण रूप से कागज़ पर नहीं उतारा जा सकता।

कविता की परिभाषा करते समय भी लेखक की यही स्थिति होती है।

जो यह कहते हैं यि 'व्यथित-हृदय' की कागज़ पर जो तस्वीर खींची जाती है—वही कविता है। वे असत्य नहीं कहते, किन्तु उनका यह कथन 'अपूर्ण' है। यह बात अवश्य कही जा सकती है, व्यथित हृदय की वेदना का निवेदन करना कविता का एक कार्य हो सकता है—बल्कि है, किन्तु केवल यही कार्य है—ऐसा कहना एक अत्यन्त व्यापक वस्तु को अत्यन्त सीमित और संकुचित बना देना है।

साहित्यकारों का एक दल ऐसा भी है जो कहता है कि 'आनन्दानुभूति' को प्रकाशित करना ही कविता का ध्येय है—नहीं है तो होना चाहिए। मैं कहता हूँ, तुम भी उसे बाँध कर रखना चाहते हो और काव्य के निर्मल झरने को तालाब बनाना चाहते हो। उसे सहस्र धारों में, सहस्र दिशाओं में बहने दो। अपनी आँखों की दृष्टि को विस्तार दो। तुम्हें कविता के योगी की कुटी, भोगी के शयन गृह, राजा के स्वर्ण-महल और किसान की झोंपड़ी में दर्शन होंगे। साहित्य-शास्त्रियों ने उनकी जो परिभाषाएँ की हैं शायद उनकी मदद से तुम उसे न पहिचान सको, किन्तु यदि तुम में अनुभूति है तो फ़ौरन कह उठोगे 'यही कविता है।'

जीवन के सत्यान्वेषण की जो स्फूर्ति और प्रेरणा वाणी-बद्ध हो जाती है वही कविता है—यह बात ग़लत है—यह नहीं कहा जा सकता है। किन्तु 'सत्य' शब्द ही ऐसा है जिसके विषय में बड़ा मतभेद है। कोई कहता है सौन्दर्य ही सत्य है, कोई कहता है सत्य ही सौन्दर्य है। कोई कहता है सत्य और सौन्दर्य भिन्न वस्तुएं नहीं हैं। सत्यान्वेषण के साथ सौन्दर्य

साधना, सौन्दर्योपासना और सौन्दर्य-प्रियता का समावेश न हो तो मैं कहूँगा कि सत्यान्वेषण की स्फूर्ति और प्रेरणा को वाणी बद्ध करने को मैं कविता का नाम देना पसंद नहीं करूँगा। वास्तव में बात यह है कि सत्य ही सौन्दर्य की चरम सीमा है। सत्य को प्राप्त करना सुन्दर को प्राप्त करना है। फिर भी मैं पाठकों को उस आकाश में ले जाना नहीं चाहता—जहाँ सौन्दर्य ही सत्य है और सत्य ही सौन्दर्य है। वे सत्य और सौन्दर्य को भिन्न रूपों में देखें तो कविता की परिभाषा इन शब्दों में करने का प्रयत्न किया जायगा—

जीवन के सत्यान्वेषण तथा सौन्दर्य-साधना में हृदय को जो आनंद और वेदना की अनुभूति होती है, उसे जब वाणी-बद्ध किया जाता है, वही कविता है।

इस जीवन शब्द का जिस व्यापक रूप में—जिसके अंदर जगत् की प्रायः सभी क्रियाएँ आ जाती हैं—मैंने प्रयोग किया है। यदि पाठक उसे उस रूप में समझेंगे तो यह परिभाषा भ्रम फैलावेगी। इस लिए इस परिभाषा में थोड़ा-सा परिवर्तन और होना चाहिए। 'विश्व-जीवन के सत्यान्वेषण तथा सौंदर्य-साधना में हृदय को जो आनंद और वेदना की अनुभूति होती है, उसे जब वाणी बद्ध किया जाता है—वही कविता है।' इस परिभाषा को पंडित रामचन्द्र शुक्ल की परिभाषा से मिलाया जाय तो मुझे उस में और इस में बहुत भेद नहीं जान पड़ता। उनकी परिभाषा का आशय है—'रस-दशा में मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती है—वही कविता है।' इसमें समझने की चीज़ है—रस-दशा।

प्रत्येक बाँसुरी अपने आप नहीं बज उठती। जब अनुभूति अपने मादक करों से किसी के हृदय को छू देती है, तो भाँति भाँति की रागिनियाँ, अनोखे-अनोखे मनोहर स्वर बरबस पंख फैलाकर उड़ने लगते हैं—यही कविता है। जिसके जीवन में अनुभूति ने कभी चोट नहीं पहुंचाई, जिन के हृदय में प्रेम ने कभी प्यार नहीं किया, जिनको कोई 'प्रिय' नहीं, वे कभी कविता नहीं कर सकते—वे कवि नहीं बन सकते। यदि वे कुछ लिखेंगे तो वह शब्द लिपि के सिवा और कुछ नहीं होगा। केवल बाह्य-रूप का वर्णन कविता नहीं। कविता अन्तरतम का, हृदय के गुप्ततम स्थान का, हृदय के छिपे से छिपे भावों का सच्चा वर्णन है। कविता की जननी है—अनुभूति। कविता है—हृदय के उन्माद का चित्र। संसार का कोई भी हृदय वेदना-हीन नहीं है—संसार का कोई भी हृदय कविता-शून्य नहीं है। अन्तर इतना ही है कि कोई-कोई अपनी अनुभूति को "स्वान्तःसुखाय" अपने घावों का मजा बार बार लेने के लिए रंग कर अमर बना देते हैं, कोई नीरव और मूक रहते हैं। जब वेदना किसी भी शर्त पर, किसी भी आश्वासन पर हृदय में रुकी नहीं रहना चाहती, तब तो बरबस मुँह से कुछ न कुछ निकल ही पड़ता है—यही कविता है। कविता का सब से बड़ा गुण यही है कि वह हृदय की सच्ची कहानी है। जो हृदय की सच्ची कहानी नहीं है—वह कविता नहीं।

कवि कौन है

श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है "बाह्य-जगत् हमारे मन के अंदर प्रवेश करके एक दूसरा जगत् बन जाता है। उसमें केवल बाह्य-जगत् के

रंग, आकृति तथा ध्वनि आदि ही नहीं होते, अपितु उसके साथ हमारा अच्छा बुरा लगना, हमारा भय-विस्मय, हमारा सुख दुःख भी मिला रहता है—वह हमारी हृदय-वृत्ति के विचित्र रस में नाना प्रकार से आभासित होता है।

"इसी हृदय-वृत्ति के रस में जीर्ण करके हम बाह्य-जगत् को विशेष रूप से अपना बना लेते हैं। जिस तरह जिनके उदर में पचाने वाला रस पर्याप्त मात्रा में नहीं होता, वे बाह्य खाद्य-पदार्थ को अच्छी तरह अपने शरीर की वस्तु नहीं बना सकते। उसी तरह जो हृदय वृत्ति के जातक रस का उपयोग संसार में पर्याप्त मात्रा में नहीं कर सकते वे बाह्य-जगत् को अंदर का जगत् अपना जगत् अर्थात् मानुषीय जगत् नहीं बना सकते। कुछ इस प्रकार के जड़ प्रकृति के मनुष्य हैं जिनके हृदयों में संसार के अत्यन्त अल्प विषयों के प्रति उत्सुकता होती है—वे संसार में जन्म लेकर भी अधिकांश जगत् से वंचित रहते हैं। उनके हृदय की खिड़कियाँ संख्या में कम और चौड़ाई में संकीर्ण होती हैं, इसलिए संसार के बीच में वे प्रवासी से हैं।"

"कुछ इस प्रकार के सौभाग्यवान मनुष्य भी हैं जिनका विस्मय, प्रेम और कल्पना सर्वत्र सजग रहती है—प्रकृति के कोने-कोने से उनको निमन्त्रण मिलता है; संसार के नाना आंदोलन उनकी चित्त वीणा को नाना रागिणियों में स्पंदित कर देते हैं।"

ये ही सौभाग्यवान मनुष्य कवि हैं। जिस कवि में जितनी अधिक मात्रा में बाह्य जगत् को अपने मन के बीच हृदयवृत्ति के नाना रसों में, नाना

रंगों में, नाना साँचों में ढालकर, मानव-मन के लिए अधिक सुगम और सुन्दर बना कर व्यक्त करने की शक्ति है, वह उतना ही बड़ा कवि है। कवि का संसार के ऊपर अधिकार तथा स्थायी रूप में व्यक्त करने की प्रतिभा—ये ही उसकी विशेषताएँ हैं। वह जगत् के आनन्द-वेदना, सुख-दुःख और हास-रुदन को अपना बनाता है—अपने अन्दर अनुभव करता है और अपनी अनुभूति को वाणी बद्ध करके मानव—मानव के हृदय को बाँटता रहता है। मानव-हृदय चाहता है कि वह अपना अनुभव अनन्त काल के लिए विश्व के हृदय में लिख जाय। केवल कविता ही नहीं प्रत्येक कला के मूल में यही प्रेरणा कार्य कर रही है।

गुजराती भाषा के श्रेष्ठ साहित्यकार श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने अपनी रस-दर्शन पुस्तक में लिखा है—

"मनुष्य का स्वभाव सृष्टि की रचना के लिए तरसते हुए ब्रह्मा का-सा है। व्यक्त करना उसका मौलिक लक्षण है। साधनाओं के द्वारा मनुष्य अपने अंतर को व्यक्त करने का प्रयास करता रहता है। उसके अवसन्न हो जाने पर ही उसकी यह मंथन दशा समाप्त होती है। व्यक्त करने की शक्ति और साधनों की भिन्नता के कारण यह विभिन्नता कलाओं को जन्म देता है।"

यह सत्य है कि प्रत्येक कलाकार या कहिये रसकार, अखिल विश्व की आँखें, अनन्त-काल तक खींचते रहने के लिए अपनी तस्वीर अपनी रचनाओं में खींच जाता है। किन्तु, केवल अपने आपको ही व्यक्त करना इसका काम नहीं है—उसकी प्रवृत्ति नहीं है। वह अखिल विश्व के

सुख और दुःख में सौन्दर्य देखता है और उसे संसार को दिखाता है। विश्व के अनेक आवरणों के भीतर जो सौन्दर्य-मूर्ति घूंघट किए बैठी है—वह उसके घूंघट को उठाकर उसकी एक झांकी को भी दिखाता है। वह केवल अपने आपको ही नहीं, अपितु अखिल विश्व को व्यक्त करता है। वह केवल अपने हृदय को ही नहीं अमर करता, बल्कि जगत् के कण कण को जीवन देने का प्रयत्न करता है। वह देखता है कि राजा के हृदय में जो सुख-दुख, आकांक्षा, अभिलाषा, आशा-निराशाएँ हैं—वे ही एक ग़रीब किसान के हृदय में भी—और वे ही वृक्ष पर बैठे हुए एक विहग-कुमार में भी विद्यमान हैं जो लोग अपनी प्रियतमाओं के वियोग को अमर बनाने के लिए ताजमहल नहीं खड़ा कर सकते, उनके लिए कवि अपनी कविता का ताजमहल बना विश्व के हृदय पर स्थायी रूप से खड़ा कर जाता है। कवियों ने अनन्त काल से अनेक सुख-दुखों को रूप देकर अमर किया है और करते रहेंगे। केवल स्वयं ही अमर नहीं होना चाहते—प्रत्येक सुन्दर वस्तु को अमर हुआ देखना चाहते हैं। उनका सुन्दर जगत् के सर्व साधारण व्यक्तियों का 'सुन्दर' नहीं है—इसे पाठक न भूलें। वह सड़क पर पड़े हुए कोढ़ी में 'सुन्दर' को पाता है, वह रूप-छवि-हीन भिखारिन के करुण गान में 'सुन्दर' को पाता है, वह चिता की ज्वाला में 'सुन्दर' को पाता है, वह भूकम्प, आँधी और सर्वनाश में भी 'सुन्दर' को पाता है। उसे आत्मा में स्थान देकर छन्दों में व्यक्त करता है।

कविता की स्फूर्ति

पहले मैंने स्फूर्ति के स्थान पर निर्माण लिखने की इच्छा की थी,

किन्तु कविता के साथ निर्माण शब्द मुझे नहीं भाया। एक बार बाबू जयशंकर 'प्रसाद' ने मुझसे प्रश्न किया था, "क्या कविता भी कोई कला है?" आज तक मैं कविता को कला ही समझता आया हूँ और लिखता आया हूँ। किन्तु विचार करने से मुझे अपनी धारणा पर सन्देह हो गया है। कविता में कला के बजाय रस खोजना चाहिए। जब कवि रस-दशा को प्राप्त होता है, तब कविता अपने आप प्रवाहित होती है। उसमें प्रयास इतना नहीं होता जितनी स्फूर्ति (intitution)।

रोमारोलां ने, कविता का निर्माण कैसे होता है, इस विषय में लिखा है—

"वज्र जब और जहां चाहता है गिरता है किन्तु कुछ ऐसे शिखर होते हैं जो उसे अपनी ओर आकर्षित करते हैं। कुछ जगह कुछ आत्माएं तूफान पैदा करती हैं। वे उसका निर्माण करती हैं। अथवा क्षितिज के प्रत्येक बिन्दु से उसे अपनी ओर खींचती है। वर्ष के कुछ महीनों की तरह जीवन के कुछ समय विद्युद्वेग से इतने अधिक भरे रहते हैं कि उनमें कड़कने का शब्द प्रायः हुआ करता है।

इसके स्वागत में मनुष्य की सारी स्थिति हिल उठती है। कभी कभी तो यह तूफ़ान कई दिनों तक चलता रहता है। आकाश जलते हुए बादलों से घिर जाता है। वायु की गति बन्द हो जाती है। स्थिर वायु मानों मिट्टी पर गरम होकर खौलना चाहती है; पृथ्वी शान्त निर्जीव हो जाती है, उससे कोई ध्वनि नहीं उठती। मस्तिष्क में, ज्वर आने की जैसी पीड़ा होने लगती है। सारी पृथ्वी इन संचित शक्तियों के भड़क

उठने की प्रतीक्षा करती है। शरीर के भीतर जैसे प्रलय होने लगता, नाड़ी-जाल पत्तों की भाँति कांप उठता है । फिर अकस्मात् सब शान्त हो जाता है । आकाश वज्र-संचय करता है ।

"जब तक इसकी प्रतीक्षा करनी पड़ती है, मनुष्य के भीतर बड़ी अशान्ति रहती है । कलाकार अपनी उसी बेचैनी में अपने भीतर उस अग्नि का अनुभव करता है, जो संसार को जला कर राख करता है । भट्टी में शराब की तरह आत्मा खौलने लगती है । उसमें जीवन और मरण के सहस्रों कीटाणु अपने अपने काम में लग जाते हैं । इस से क्या उत्पन्न होगा आत्मा नहीं जानती । गर्भवती स्त्री की भाँति चुपचाप वह अपनी ओर देखती है और उत्सुकता से अपने गर्भ के भीतर संचार का निरीक्षण करती है और सोचती है—"मुझसे क्या उत्पन्न होगा ?"

"कभी कभी इस प्रकार की बेचैनी व्यर्थ होती है । तूफ़ान भड़कता नहीं धीरे से निकल जाता है। किन्तु कलाकार जागता है—थका हुआ और भग्न हृदय। वह कुछ देर के लिए और ठहर जाता है । उसे तो भड़कना ही है। यदि आज नहीं तो कल। जितनी ही देर तक वह रुका रहता है। उतनी ही भयंकर उसकी धड़कन होती है।"

"अब यह आता है। आत्मा के सभी भागों से गरजते हुए बादल आ जाते हैं। बड़े घने, नीले और काले । रह रह कर बिजली चमकती है आत्मा का क्षितिज एक बार प्रकाशित होता है, किन्तु, फिर वह प्रकाश निकल जाता है। विक्षिप्तता की एक घड़ी ! चेतना की उस राशि में सारा संसार कांपने लगता है। आत्मा यातना में पड़ जाती है । जीवन की अब

और इच्छा नहीं होती। अब अन्त, बस अन्त, केवल यही एक इच्छा···।"

"अकस्मात् प्रकाश हो जाता है। कलाकार आनन्द में उन्मत्त हो उठता है। यह आनन्द रचना का आनन्द है। आनन्द ! उत्तेजित आनन्द ! सूर्य, जो हो और जो होने को है, सब प्रकाशित कर देता है। रचना का दैवी आनन्द ! रचना से बढ़कर अन्य आनन्द नहीं। जो रचना करते हैं, उनके अतिरिक्त दूसरे जीवित प्राणी नहीं। शेष सभी जीवन से अपरिचित, पृथ्वी पर भटकने वाली छाया हैं। जीवन के सभी आनन्द वास्तव में रचना के आनन्द हैं। शरीर के द्वारा निर्माण करना, जीवन के कारागार से मुक्त होना है। यह जीवन की आँधी पर चढ़ना है यह वही होना है "जो सदा है।" रचना करना मृत्यु के ऊपर विजय प्राप्त करना है।"

"वे स्त्री और पुरुष भाग्य-हीन हैं, जो आते हैं और चले जाते हैं, किन्तु अपना कोई भी ऐसा स्मृतिचिन्ह नहीं छोड़ जाते जिससे कि फिर कभी जीवन की लपट निकल सके। वह आत्मा भाग्य-हीन है, जो अपने फलवती होने का अनुभव न करके भी अपने को जीवन और प्रेम में महान समझती है। ऐसे जीव पर संसार सम्मान का बोझ भले ही लाद दे, किन्तु वास्तव में वह इस भांति मृतक की शोभा बढ़ाना चाहता है।"

रचना करने के लिए कवि के हृदय में जो यह बेचैनी होती है—इसे ही रस-दशा कहा जा सकता है। यही अनुभूति का आवेग है।

प्रयास और अभ्यास से काव्य रचना में सौन्दर्य आता है, यह बात भी माननी ही पड़ेगी और जहाँ मनुष्य का प्रयत्न काम कर रहा है वहाँ

कला नहीं है, इस बात से भी सोलहों आना इनकार करना असम्भव हो जाता है। फिर भी जो कवि हैं, वे जानते हैं कि काव्य-रचना किसी शैली, किसी शास्त्र और किसी परिपाटी का बंधन स्वीकार नहीं करती। स्वयं कवि अपनी इच्छा के अनुकूल, अपनी मर्ज़ी के विषय पर रचना करने में सफल नहीं होता। वह क्या लिखने जा रहा है, इस बात की उसे स्वयं कल्पना नहीं होती। जो कुछ लिखने बैठा था उससे भिन्न वस्तु ही वह लिख बैठता है। किन्तु वह निरर्थक प्रलाप नहीं होता। उसमें अर्थ भी होता है, सौन्दर्य भी और रस भी।

मैंने एक कविता में लिखा है—

चित्रित करने लगता हूं जब ऊषा का अनुराग अनूप,
जाने कैसे मुग्ध लेखनी लिख देती सन्ध्या का रूप।
कमल बनाता हूं सरवर में बन जाती कुमुदिनि अनजान।
रवि की रश्मि नहीं खिंचती है खिंच जाती शशि की मुसकान।

पूर्व दिशा का स्वर्ण भूल से
पश्चिम में भर जाता है।
जाने कौन बसा आँखों में
जो तस्वीर खिंचाता है।

कवि कागज़ पर जो तस्वीर खींचने बैठता है कभी-कभी उससे सर्वथा भिन्न वस्तु ही खिंच जाती है।

इसी प्रकार श्री जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द ने अपनी 'कुछ का कुछ' कविता में लिखा है।

घर-घर गाने चली भक्ति जब
गिरि की दृढ़ता का गुण-गान,
उसी रात, उर चीर, प्रेम की
गंगा फूट पड़ी गतिमान;
गायक झुँझला जाता है,
हाय, युगों के संयत! क्यों तू
पल-भर में बह जाता है!

लिखा महानद-महासिंधु के
महामिलन का ज्यों ही गान,
टेढ़ी मेढ़ी विकल पंक्तियाँ
विरह-गीत बन गईं अजान।
कवि कुंठित हो जाता है!
ऐ आनन्द, वेदना में क्यों
तू लय होता जाता है!

अंकित करने चली तूलिका
ज्यों ही विस्तृत नील गगन,
किसी नयन का लघु तारा
खिंच गया चित्र-पट पर तत्क्षण;
चित्रकार चकराता है।
ऐ असीम, क्यों तू सीमा में
प्रतिपल बँधता जाता है?

कविता का विषय

कविता की सृष्टि किस प्रकार होती है—यह बताते हुए मैंने जो यह बात कही है कि हृदय में एक विशेष बेचैनी—विशेष स्फूर्ति होती है और कवि अनायास ही कुछ लिख डालता है, इससे पाठक शायद यह समझ सकते हैं कि कविता मतवालेपन की बहक होती है। बहक में न कोई विषय हो सकता है न कोई उसका अर्थ। किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। कवि के हृदय में जो प्रसव-वेदना होती है, उसके स्पष्ट कारण होते हैं—नियम होते हैं। उसकी बहक, यद्यपि संसार की वाणी से भिन्न है, फिर भी वह निरर्थक नहीं है।

युग-युग के संस्कार, प्राण-प्राण के सुख-दुःख, जड़ प्रकृति की गतियाँ अर्थात् संसार का कण-कण अपनी बातें कवि के हृदय में लिखता जाता है। वे ही तो कविता के बीज हैं। पानी पाकर वे कविता के रूप में प्रस्फुटित हो उठते हैं। इन सब में एक क्रम होता है, एक गति होती है और एक नियम होता है। जो कवि की बहक को पागलों की बहक से पृथक् करती है।

ज्ञान कविता का विषय नहीं है। 'भाव' ही कविता का विषय होता है। प्रेम, उत्साह, आश्चर्य, करुणा, आनन्द-व्यथा, शांति-अशांति आदि भावनाओं की व्यञ्जना के लिये ही कवि-हृदय आदि-काल से गाते आए हैं। किसी ज्ञान का प्रसार करने के लिए नहीं।

रवि बाबू ने लिखा है "जो ज्ञान की बात है—प्रचार हो जाने पर उसका उद्देश्य सफल होकर समाप्त हो जाता है।.........किन्तु हृदय

की बात प्रचार के द्वारा पुरानी नहीं होती । ज्ञान की बात को एक बार जान लेने के पश्चात् फिर जानने की आवश्यकता नहीं रह जाती ।.................. भावों की बात का बारम्बार अनुभव करके भी श्रांति बोध नहीं होता । ....यदि मनुष्य अपनी किसी वस्तु को चिरकाल-पर्यन्त मनुष्यों के पास उज्ज्वल तथा नवीन भावों में अमर करके रखना चाहता है, तो उसे भावों की बात का ही आश्रय लेना पड़ता है ।"

इसी कारण यह कहना पड़ता है कि कविता का प्रधान अवलम्बन ज्ञान का विषय नहीं है, भावों का विषय है ।

पाठक कह सकते हैं कि यह तो कविता को सीमित कर देना हुआ । एक युग था जब कि वेदों का ज्ञान भी कविता में कहा गया था । अंकगणित व्याकरण आदि शास्त्रों के सूत्र भी कविता में लिखे गए थे—और आज भी यह तमाशा देखने में आता है कि कुछ कवि पुंगव भूगोल तक को कविता में लिखने का उद्योग करते हैं ।

वेद को मैंने नहीं पढ़ा । उसके कुछ मन्त्रों का अनुवाद देखा है और उन्हें देखकर मैं कह सकता हूँ कि वे मनुष्य को भावना-विह्वल पहले करते हैं– ज्ञान पीछे देते हैं । जिन मन्त्रों पर ज्ञान का बोझ लादा गया है, उन्हें बार-बार पढ़ने की इच्छा नहीं होती । 'ज्ञान का प्रचार किया जाता है और भाव का संचार' । गुणी जनों के इस कथन में पर्याप्त सचाई है । जो ज्ञान भावना के प्राणों से अभिभूत होकर विश्व के हृदयों में अभिसार करता है, वह अमर हो जाता है । इसीलिए वेदों और उपनिषदों का ज्ञान अमर है । इससे उस ज्ञान की महत्ता—उसका गौरव कम भले ही हो, पर

वह मानव-मानव के प्राणों में वास कर गया है।

जो लोग भूगोल जैसी चीज़ को छन्दों में बाँध कर उसे भी कविता कहना चाहते हैं, उनके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। पद्य-रचना करना एक बात है और कविता करना दूसरी। पद्य-रचना का विषय कुछ भी हो सकता है, किन्तु कविता का विषय तो मानव-प्राणों में भावों का संचार करना हो सकता है।

कवियों ने राम, कृष्ण आदि महापुरुषों, झांसीवाली रानी, पद्मिनी, शिवाजी और महाराणा प्रताप आदि ऐतिहासिक व्यक्तियों को लेकर कविताएँ लिखी हैं—वे भी किसी प्रकार का ज्ञान प्रचार करने के उद्देश्य से नहीं बल्कि भक्ति, प्रेम, देश-प्रेम, राष्ट्रीयता आदि भावनाओं का हृदय हृदय में संचार करने के लिए। कवि जिस प्रकार एक फूल को देख कर प्रभावित होता है—उसे सुन्दर और प्रिय समझकर उस पर आसक्त होता है, उसकी छवि के गीत गाता है। उसी महान आत्माओं के सौन्दर्य से भी वह प्रभावित होता है। उनके विषय में वह जो अनुभव करता है—वही अनुभव वह दूसरों को भी कराना चाहता है।

हिंदी कविता

कविता के सम्बन्ध में इतना लिख देने के बाद मैं पाठकों का ध्यान अपनी इस पुस्तक की ओर खींचना चाहता हूँ। वास्तव में यह आश्चर्य की बात है कि प्रत्येक भाषा का इतिहास एक ही बात कहता है कि गद्य के पहले पद्य का विकास हुआ। हिन्दी में भी प्राचीनतम पुस्तकें—खुमान रासो (दलपति विजय कवि-कृत), बीसलदेव (नरपति नाल्ह

कवि कृत), पृथ्वीराज रासो (चन्द कवि कृत), जयचन्द प्रकाश, आल्हा (जगनिक कवि कृत), विजयपाल (नलसिंह भट्ट कवि कृत) आदि सभी पद्य में हैं। इन रचनाओं को देखकर कहा जा सकता है कि हिन्दी का कविता-साहित्य प्रारम्भ से ही काफ़ी उन्नत रहा है।

यह बात सत्य है कि साहित्य में युग की छाप रहती है अथवा यों कहिए कि साहित्य युग की तस्वीर है। इतिहास घटनाओं का लेखा दे सकता है, वह ज़माने का शरीर आप को दिखा सकता है, किन्तु काव्य मे आप ज़माने का हृदय पावेंगे। हमारे उन पूर्वजों को, जिन्हें संसार से बिदा हुए शताब्दियाँ बीत गईं, आज भी हम अपने बीच में बैठा पाते हैं। हम उनके शरीर को चाहे न देख पा रहे हों, किन्तु उनका हृदय आज भी हम से बातें कर रहा है और हम उनकी भावनाओं को समझ रहे हैं—यह भी जान रहे हैं कि किस युग में हमारा देश वीर था, किस युग में वह भक्ति की धारा में बह गया, किस युग में वह विलास का बंदी हो गया, किस युग में वह विलास के बंधन तोड़ने को आकुल हो उठा और किस युग में उसने अपने अन्दर विश्व की आत्मा को पाया।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि हमारी हिन्दी कविता की ये ही मुख्य धाराएँ रही हैं—

(१) वीरता-प्रदर्शक काव्य-धारा।
(२) भक्ति-रस पूर्ण काव्य-धारा।
(३) शृंगार-रस पूर्ण काव्य-धारा।
(४) राष्ट्रीय काव्य-धारा।

(५) छायावादी काव्य-धारा।

(६) हृदयवादी काव्य-धारा।

प्रथम तीन प्रकार की रचनाएँ प्राचीन युग में ही होती रही हैं। उस युग का परिचय देना मेरी इस पुस्तक का विषय नहीं है। केवल इसी युग की रचनाओं से परिचय कराने के लिए मैंने यह संग्रह पाठकों के सम्मुख रखा है।

प्राचीन और नूतन के मुकाबले में रख कर किसी एक का अपमान करना मैं नहीं चाहता। साहित्य में प्रत्येक रस की और सभी प्रकार की भावनाओं का समावेश होना चाहिए। वीर-गाथाओं के रचियता चंदवरदाई से लेकर भूषण तक ने हमारे राष्ट्र के प्राणों को बल देने का एक अमर खज़ाना भर रखा है। हमें दुःख केवल इस बात का है कि उसकी भाषा बहुत पीछे रह गई है और उसकी आत्मा के पास अब हमें पहुंचना कठिन हो गया है। किन्तु वह सम्पति खो देने के योग्य नहीं है। उनकी भावनाओं की आज भी राष्ट्र को आवश्यकता है। हमारी सोई हुई वीरता फिर जाग पड़े—यह वांछनीय है।

इसी प्रकार वे रचनाएँ जिन में भक्ति ने प्राणों की—आत्माओं की बात कही है युग युग तक राष्ट्र-हृदयों में लिखी रहेंगी। वीर-गाथा काल की रचनाएँ एक विशेष देश की घटनाओं से सम्बन्ध रखने के कारण संभव है, संसार के अन्य भागों में आदर न पा सकें, किन्तु भक्ति काल की रचनाएँ तो सारे संसार की सम्पत्ति हैं।

यह तुलसी, कबीर और मीरा आदि भक्ति-रस में दीवाने कवि आज

भी विश्व को निमंत्रण दे रहे हैं कि जो सुधा तुम्हें चाहिए हमारे पास है। आओ और पीकर आनन्द से नाच उठो।

सच पूछा जाय तो आजकल छायावाद की जो गंगा उतरी है वह भक्ति के महादेव की जटाओं से ही प्रवाहित हुई है।

केवल एक ही धारा ऐसी है जिसके विषय मे हमें शिकायत है और वह है शृंगार रस-धारा। शृंगार के बिना साहित्य नीरस है यह सर्वथा सत्य है, किन्तु शृंगार का अर्थ नग्नता नहीं है। भक्ति-रस की कविताएँ लिखने वाले सूर और मीरा ने, शुद्ध रहस्यवादी रचनायें लिखने वाले कबीर, दादू, नानक आदि ने भी शृंगार रस को त्याज्य नहीं समझा है, किन्तु उस शृंगार में और इस शृंगार में बड़ा अन्तर है। वह शृंगार रस था—विश्वात्मा के प्रतिविषय-भावना हीन आत्मिक सम्बन्ध आत्मा का आत्मा से ग्रंथि-बन्धन और यह शृंगार-रस था शरीर का शरीर से मिलन। इस प्रकार का मिलन उच्चकोटि के साहित्य में कोई उच्च स्थान नहीं पा सकता।

इस युग के प्रतिनिधि कवि श्रीयुत सुमित्रानन्दन पंत ने अपनी पुस्तक 'पल्लव' की भूमिका में इन कवियों के विषय में जो कुछ लिखा है उसका कुछ अंश मैं यहाँ दिए बिना नहीं रह सकता। वह लिखते हैं—

"अधिकांश भक्त कवियों का समग्र जीवन मथुरा से गोकुल ही जाने में समाप्त हो गया। बीच में उन्हीं की संकीर्णता की यमुना पड़ गई। कुछ किनारे पर रहे, कुछ उसी में बह गए, बड़े परिश्रम से कोई पार भी गये तो व्रज से द्वारका तक पहुँच सके। संसार की सारी परिधि यहीं समाप्त हो गई। रूप के उस श्याम वर्ण के भीतर झाँक न सके। अनन्त

नीलाकाश को एक छोटे से तालाब के प्रतिबिम्ब में बाँधने के प्रयत्न में स्वयं बँध गए। सहस्र दादुर उसमें छिपकर टर्राने लगे। समस्त वायु-मण्डल घायल हो गया। यमुना की नीली लहर काली पड़ गई। भक्ति के स्वर में भारत की जन्मजन्मान्तर की सुप्त मूक आसक्ति बाधा-विहीन बौछारों में बरसा दी। ईश्वरानुराग की बाँसुरी अन्ध-बिलों में छिपे हुए वासना के विषधरों को छेड़ छेड़ कर नचाने लगी। श्याम तथा राधा की खोज में, सौ-सौ यत्नों से लपेटी हुई समस्त आबाल वृद्धाएँ नग्न-प्राय कर भारतीय गृहस्थ के बंद द्वारों से बाहर निकाल दीं। उनके कभी इधर-उधर न भटकने वाले सुकुमार पाँव संसार के सारे विषपूर्ण कांटों से जर्जरित कर दिए।.........

"............भाषा का ऐसा शुक-प्रयोग, राग और छेदों की ऐसी एक स्वर रिमझिम, उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादुरावृत्ति, अनुप्रास एवं तुकों की ऐसी अश्रान्त उपल वृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है।.........इस तीन फुट के नख-शिख के संसार से बाहर ये कवि-पुंगव नहीं जा सके। हास्य, अद्भुत, भयानक आदि रसों के तो लेखनी को......कभी कभी कुल्ले मात्र करा दिये हैं।"

बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी कविता को नवीन दिशा की ओर प्रवाहित करने में बहुत परिश्रम किया है। उनके काल में राष्ट्र ने नव-चेतन पाया है और वह नव-चेतन उनकी रचनाओं में आज तक जीवित है। प्राचीन परिपाटियों की जंजीरों को तोड़ कर भारतेन्दु जी ने हिन्दी कविता को बंधन मुक्त किया है। उसको विश्व की अन्य भाषाओं के साथ पैर

रखने के लिए उसके मार्ग के कांटे चुनने का कार्य इस काल के अन्य कवि देवीप्रसाद पूर्ण, श्रीधर पाठक, सत्यनारायण कवि-रत्न, अयोध्यासिंह उपाध्याय, महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि ने किया है।

श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री जयशंकर प्रसाद, श्री माखनलाल चतुर्वेदी और सुमित्रानंदन पंत ने—जो इस युग के प्रतिनिधि कवि हैं—हिन्दी-कविता के जरा-जर्जरित प्राणों में नवजीवन-संचार किया है—उसे यौवन प्रदान किया है। भाषा को राष्ट्र-भाषा का रूप प्रदान किया है। इतना ही नहीं राष्ट्र का विश्व के साथ और आत्मा का परमात्मा के साथ ग्रंथिबन्धन इस युग के कविओं ने किया है।

खड़ी बोली के विषय में अपनी ओर से एक शब्द भी न कहकर पंतजी के निम्न लिखित वाक्य उद्धृत कर देना मैं उचित समझता हूं।

"खड़ी बोली में चाहे ब्रजभाषा की श्रेष्ठतम इमारतों की होड़-जोड़ की अभी कोई इमारत भले ही न हो, उसके मंदिरों में वैसी बेल-बूटेदार मीना-कारी तथा पच्चीकारी, उसकी गुहाओं में अजन्ता का-सा अद्भुत अध्वसाय, चमत्कार, विविध वर्णों की मैत्री तथा अपूर्व हस्तकौशल, उसकी छोटी-मोटी, इस पत्थर के काल की मूर्तियों में वह सूक्ष्मता, सज-धज, निपुणता, अथवा परिपूर्णता न मिले, उसमें अभी मानस के से पवित्र घाटों का अभाव हो, पर उसके राज-पंथों में जो विस्तार और व्यापकता, भिन्न भिन्न स्थानों का आने जाने वाले यात्रियों के लिए जो रथ तथा यानों के सुप्रबन्ध की ओर चेष्टा, उसकी हाट-बाट विपणियों में जो वस्तु वैचित्र्य का आयोजन है,

देश-प्रदेशों के उपभोग्य पदार्थों के विनिमय तथा क्रय-विक्रय को सुलभ करने का प्रयत्न किया जा रहा है, उसके पार्कों में जो नवीनता, आधुनिकता, विपुलता, पुष्पों की भिन्न भिन्न ढांचों में खिली वर्तुलाकार, आयताकार, मीनाकार, वर्गाकार, रंग-बिरंगी क्यारियाँ सामयिक रुचि की कैंची से कटी छँटी जो विविध स्वरूपों की झाड़ियाँ, गुल्म, वृत्तावलियाँ, नव-नव आकार-प्रकारों में विकसित तथा सिंचित कुंज, लता-भवन और बेलि-वितान अभी हैं वे असंतोषप्रद नहीं। उसमें नये हाथों का प्रयत्न, जीवित सांसों का स्पंदन, आधुनिक इच्छाओं के अंकुर, वर्तमान के पद-चिह्न, भूत की चेतावनी, भविष्य की आशा, अथच नवीन युग की नवीन सृष्टि का समावेश है। उसमें नए कटाक्ष, नए रोमांच, नए स्वप्न, नया हास, नया रुदन, नया हृत्कंपन, नवीन वसंत, नवीन कोकिलाओं का गान है।

"इन बीस-पचीस बरसों के छोटे-से बित्ते में खड़ी बोली कविता के मूल देश के हृदय में कितने चले गए, उसकी शाखा-प्रशाखाएँ चारों ओर फैलकर हमारी खिड़कियों से किस तरह भीतर-भीतर झाँकने लगी, किस तरह वायु के झोंकों के साथ उसके राशि-राशि पुष्पों की अर्धस्फुट-सौरभ हमारे कमरों में समाने, सांसों के साथ हृदय में प्रवेश करने लगी, उसकी सघन हरीतिमा के नीड़ों में छिपे कितने पक्षी, बाल-कोकिला, तरुण-पपीहे, तथा प्रौढ़ शुक, सहस्र स्वरों में चहचहाने तथा सुधा-वर्षण करने लगे। उसके पत्र हिल-हिल कर किस तरह हमारी ओर संकेत करने लगे। उसकी अस्फुट मर्मर में हमें अपनी विश्व-व्यापी उत्थान-पतन, देश-व्यापी आशा-निराशा, घटघट व्यापी हर्ष-विषाद की वर्तमान के मनोवेगों,

भविष्य की प्रवृत्तियों की कैसी सहज प्रतिध्वनि मिलने लगी है, यह दिवस की ज्योति से भी स्पष्ट है । इसके लिए दर्पण की आवश्यकता नहीं ।"

प्राणी मात्र के हृदयों में एक ही वेदना राज्य कर रही है, एक ही सौन्दर्य शासन कर रहा है, एक ही रूप पागल बना रहा है, एक ही प्रेम सब को नाच नचा रहा है। सब के अरमान एक ही ओर पंख फैलाए उड़े जाते हैं। विश्व-साहित्य वही है, जिसमें जाति-पाँति की सीमा के पार भेद-भावों से दूर हृदय की करुण कहानी गूंथी जाती है । उस पर सारे संसार का समान अधिकार है, सारा संसार उससे समान प्यार करता है । रवीन्द्र, शेक्सपियर, शैली, कीटस, कालीदास आदि ने मानव हृदयों का जो सुन्दर और स्वाभाविक चित्र खींचा है उससे आज वे संसार के लाडले हो गए हैं। संसार-भर उनकी कृतियों को पढ़ता है और आत्मीयता का अनुभव करता है। हमारी हिन्दी के ब्रज-भाषा के युग में भी सूर, तुलसी, कबीर, मीरा, तथा अन्य भक्त और प्रेमी कवि अवश्य ऐसे ही हैं जिन्होंने मानव हृदय की सच्ची वेदना, दुःख-सुख, आनन्द-उछाह संयोग-वियोग का वर्णन किया है। वे वास्तव में विश्व-कवि थे। परन्तु दूसरे पदमाकर, मतिराम, देव आदि सैकड़ों शृंगारी कवि मथुरा वृन्दावन के बाहर अपना संसार नहीं बना सके। शरीर नाशवान है, आत्मा अमर है। जिसने आत्मा का संगीत सुनाया वे अमर कवि हैं, जिसने शरीर के वर्णन में ही अपना जीवन बिता दिया वे अपनी मृत्यु के पहले मुर्दे हो चुके हैं।

छायावाद

हिंदी भाषा के प्रायः सभी नवीन कवि अपने आप को छायावादी कवि कहने में अपना गौरव समझते हैं, और समालोचक समुदाय ने भी उन्हें छायावादी की संज्ञा दे रखी है । अपने आप को छायावादी कहने वाले कवियों में से अनेक ऐसे हैं जिन्हें इस शब्द का अर्थ, उत्पत्ति एवं इतिहास का कुछ भी पता नहीं और वे यह भी नहीं जानते कि उनकी रचनाओं में छायावाद कहां से प्रारंभ होता है ।

ईसा की बारहवीं शताब्दी में संत वर्नार्ड (St. Beruard) ने कहा था—"जब साधक के हृदय-देश मे ईश्वर की भेजी हुई ज्योति की किरन झलक की तरह क्षणमात्र के लिए आ जाती है तब उस परम तेज की चका-चौंध को कम करने के लिए अथवा उसके द्वारा प्रकाशित ज्ञान को दूसरों तक पहुँचाने के योग्य बनाने के लिए उस प्रेषित ज्ञान या तथ्य को व्यंजित करने के उपयुक्त पार्थिक जगत का कुछ अनूठा-विधान सामने आ जाता है । छलावे की तरह भासित हुए उस रूपक को "छाया दृश्य" (Phantasmata) कहते हैं ।" कविताओं में इन्हीं "छाया दृश्यों" के वर्णन ने छायावाद को जन्म दिया है ।

छायावाद एक स्थिति है जिसमें हृदय को अनंत के साथ अपने संबंध की अनुभूति होती है । छायावाद प्रेमी, प्रेम, अनंत और सौंदर्य इन चारों चीज़ों में संबंध स्थापित करता है । कोई-कोई छायावादी कवि छायावाद को हृदय की उस रहस्यमय प्रेरणा का नाम बतलाते हैं जो सीमित वस्तुओं के घूंघट में असीम का मुख देखने को अकस्मात् व्याकुल

हो जाया करती है मैं कहता हूं। कवि की आत्मा अनंत से जो प्रेम करती है वही उसे सीमा में असीम और रूप में अरूप को देखने का पागलपन प्रदान करती है।

जिस वस्तु को कभी पाकर खो दिया है, जिसे खोने का बहुत कलक है, उसको खोजने के लिए हम संसार का कण कण खोज डालने के लिए आकुल हो उठते हैं। प्रेम का उन्माद ही हम को प्रत्येक वस्तु में 'प्रियतम' के दर्शन कराता है। इसीलिए मैं कहता हूं प्रत्येक अनंत का प्रेमी कवि छायावादी कवि है। प्रेम का पागलपन ही उसे सारी वस्तुओं में अपने 'प्यारे' का आभास कराता है।

ज्यों-ज्यों विरह-निशा बढ़ती है
बढ़ता मेरा प्यार अपार।
जल-थल, अनिल-अनल, कल-रव
सब में मिलते हो प्राणाधार।
पत्थर के टुकड़ों में भी तो
मिलता प्रियतम का आभास,
उठा हृदय पर रख लेता हूं,
करता रहे जगत उपहास।

पत्थर के टुकड़ों में 'प्रियतम' का आभास देने वाला 'प्रेम' के सिवा और है ही कौन! छायावादी यदि असीम को प्यार करने वाला है तो उसे ससीम के घूंघट में असीम का मुख देखने की अभिलाषा सिवा प्रेम के कौन उत्पन्न कर सकता है।

मैंने एक स्थान पर लिखा है।

सीमा का घूंघट कर आती, अयि असीम, ज्यों घन में चंदा।
अखिल विश्व का मन उलझाता यह गोपन का गोरखधंधा।
तिल की ओट, प्राण, तुम अपनी क्यों विराटता ढक लेती हो।
काया के कारागृह की तुम आँखें बंदिनि कर देती हो।

प्रिये, रूप की धूप-छाँह का
मत अरूप पर परदा डालो।
कहो, मूर्ति मुझ में अरूप है
आँखें हों तो दर्शन पा लो।

जो मूर्ति में अमूर्त को देखता है उसका दृष्टि-कोण ही बदल जाता है। वह जगत् की किसी वस्तु का वर्णन करेगा, किसी भी विषय पर लिखेगा, उसका प्रियतम, उसका अनंत साथ नहीं छोड़ेगा।

यह आवश्यक नहीं है कि जो अनंत का प्रेमी है उसकी आत्मा का संयोग अनंत की आत्मा से हो ही गया है। वियोग भी संभव है। प्रियतम के वियोग में रोने वाला भी उतना ही छायावादी है, जितना कि उसका साक्षात् करके आनंदित होने वाला।

छायावाद में अस्पष्टता

वर्तमान हिन्दी छायावादी रचनाओं में अनेक ऐसी होती हैं जिन्हें पाठक नहीं समझ पाते। बहुत से कवि इस अस्पष्टता को भी एक गुण समझते हैं, किन्तु, मैं इस अस्पष्टता को कवि की असमर्थता—उसमें अनुभूति की कमी समझता हूं। जिन्हें अपने 'प्रियतम' का रूप स्पष्ट

नहीं है, जिनका प्रेम अभी बहुत ही हलका है, उन्हें 'प्रिय' और 'सुंदर' का स्पष्ट चित्र खींचना संभव नहीं है। यही कारण है कि अनेक कविताएँ केवल अनर्गल शब्द-समूह मात्र ज्ञात होती हैं।

किन्तु सभी छायावादी रचनाएँ ऐसी हैं, यह बात नहीं है। इन कविताओं में अस्पष्टता होने के तीन कारण हैं।

१ लोगों में उसके समझने की इच्छा का अभाव।

२ छायावाद की कविता मे मानसिक चित्र-पटों की प्रधानता।

३ नवीन कल्पनाओं से पाठकों का अपरिचय।

छायावादी कवि अनंत से प्रेम करता है, जिसे लोगों ने देखा नहीं, न अनुभव ही किया है। इस कारण उसकी कल्पना भी बड़ी रहस्यमय होती है। उसके गीत लोगों को सहज ही समझ मे नहीं आते। जो केवल शरीर को चाहने वाले भ्रमर हैं उनकी कविताएँ संसारी लोग शीघ्र ही समझ लेते हैं। वे लोग ऐसी घटनाओं और भावनाओं से परिचित हैं। परन्तु, जो अनंत का प्रेमी है उसकी प्रेम-कहानी एक उलझन होती है। लोग कहते हैं कैसी अनहोनी, निरर्थक कल्पना है, लेकिन वे लोग छायावादी कवि की कल्पना को समझ नहीं पाते।

कल्पना कोई मिथ्या वस्तु नहीं है—कल्पना सत्य को स्पष्ट दिखाने वाली दूरबीन है। कल्पना प्रेम-लोक की छिपी हुई वस्तुओं पर से परदा हटाने वाले कुशल कर हैं। कल्पना वह वायु है जो आकाश के काले मेघों को हटा कर उसमें छिपे हुए असंख्य तारे, शशि, रवि को प्रकट कर देती है। कल्पना वह मलय है जो असंख्य सुमनों को सहसा

खिला देती है। कल्पना भी सत्य ही है। जिसने कभी इन्द्रधनुष को देखा न हो, वह इन्द्रधनुष के वर्णन को कल्पना कह सकता है। इसी प्रकार कवियों के वर्णन को कल्पना इसलिए कहते हैं कि लोगों की दृष्टि बहुत थोड़ी दूर तक जा पाती है। कवि के उर में जो सौरभ छिपा हुआ है वह कवि की आँखों से दूर नहीं लेकिन संसार की आँखों से दूर है। मृत्यु के परदे में जो यौवन छिपा रहता है वह संसार की आँखों से दूर है, कवि उसे सहज ही समझ जाता है। निशा की चादर से जो विहान ढका हुआ है, वह संसार की आँखों को दिखाई नहीं देता लेकिन कवि उसे स्पष्ट देखता है। क्षितिज के पार संसार की आँखें नहीं जातीं, कवि उस लोक को कल्पना की आँखों से देख लेता है। शून्य के हृदय में जो जो छिपा हुआ है, यह कवि ही जान लेता है, संसार नहीं जान पाता। कवि जो कुछ कहता है संसार उसे न देखने और न समझने के कारण मिथ्या कह सकता है। इसी कारण लोग कल्पना को "गप्प" कहते हैं। सच पूछा जाए तो कल्पना सत्य के दर्शन कराने को ले जाने वाले पंख हैं।

कल्पना कवि की केवल आँख ही नहीं, उसे कान का काम भी देती है। विहान की विहग बालाओं के गीत, सन्ध्या का संगीत, सरिता का कलकल गान, झरनों का झर-झर स्वर जिस अनन्त का सन्देश लाता है, कवि कल्पना के कानों से तुरन्त उसे सुन लेता है। लाखों आदमी प्रकृति को देखते हैं, परन्तु उसके गीतों को नहीं सुन पाते, सुन भी पाते हैं तो समझ नहीं पाते, प्रकृति का सौन्दर्य नीरव स्वर में जो कुछ गाता है वह एक अमर रागिनी है, जिसे कवि सुनता है और छन्दों में गूँथता है

उसके गीत अटपटे से लगते हैं। दुनिया उसे मूर्ख कहती है। सच पूछा जाय तो समझ की कमी उन लोगों में ही अधिक है जो कवि को मूर्ख कह उठते हैं। कवि कल्पना स्वाभाविकता का सरस संगीत है। कवि की कल्पना मादकता का रूप है। कल्पना 'सुन्दर' का सच्चा चित्र है। कल्पना 'सत्य' है, हृदय की अनुभूति, बिना कल्पना की सहायता के कोई भावना साफ़ साफ़ व्यक्त नहीं हो सकती।

मानव-हृदय की वेदना प्रेम लोक की पीड़ापूर्ण कहानी, अनन्त का रहस्यमय स्वरूप, प्रियतम के मादक प्यार का आज तक किसी भी महा कवि द्वारा ठीक ठीक वर्णन नहीं हुआ। उसकी कल्पना जितनी ऊँची उड़ सकी, उसने उतना ही अधिक रहस्य लोगों के सामने प्रकट किया। उसने जितना देखा उसका वैसा ही वर्णन किया। रहस्यमय के रहस्य छाया-लोक के उपवन के प्रत्येक सुमन, सौरभ, कण कण का सच्चा वर्णन करने का प्रयत्न छायावादी किया करता है। जो बात मानव-हृदय में बार बार उठती है, लेकिन अव्यक्त रह जाती है, उसका वर्णन कवि सुन्दर शब्दों में कर देता है। जिसका प्रेम जितना ही गहरा है वह अपने प्रियतम की खोज में उतना ही परिश्रम करेगा, उसकी कल्पना उतनी ही ऊँची उड़ेगी। उसकी कविता उतनी ही गहरी होगी।

आधुनिक कविता में करुणरस का आधिक्य

वियोगी होगा पहला कवि

आह से उपजा होगा गान

कुछ लोगों को हमारे वर्तमान कविता-साहित्य की विकल बांसुरी से

बड़ी घबराहट हो रही है, वे इसे घातक समझ रहे हैं । साथ ही अस्वाभाविक भी। कहते हैं कि यातना हाट-बाज़ार में रखने की चीज़ नहीं, वह हृदय में छिपा कर रखने की वस्तु है। सच्चे कवि को रोना नहीं चाहिये, परन्तु आज तक कोई ऐसा महाकवि नहीं हुआ, जिसने अपने जीवन में एक बूंद भी आँसू न गिराया हो । यह हृदय की सात्विक दुर्बलता है। कवि अपने होश में रह कर कभी नहीं रोता । बेहोशी में ही रोता है। भला यह कौन कह सकता है कि कोई बेहोशी में अनमोल हीरों की दुकान लगा कर बैठेगा । कवि दूकान नहीं लगाता, उनका मूल्य नहीं लेता। लोग उसकी आँखों के आँसुओं को चुरा ले जाते हैं। जो लोग आँसुओं की दुकान लगा कर बैठते हैं, वे शायद आँसू नहीं दे सकते । ये आँसू सच्चे मोती नहीं हैं, मोम के मोती अथवा पानी की बून्दें हैं । संसार उनको परख लेगा, अधिक दिन तक यह धोखा चल न सकेगा । हमारे कवियों में किन किन के आँसू छल हैं, यह भविष्य अपने आप बतला देगा। परन्तु यह कह देना कि रोना अस्वाभाविक है, अच्छा नहीं है, निन्दनीय है, यह हृदय के एक सुकुमार भाव का अपमान है। कवियों का हृदय कोमल और पावन होता है। हृदय की कोमलता निर्बलता नहीं है वरन् यह वह बल है जो हृदय हृदय में प्रेम का सम्बन्ध स्थापित करता है। करुणा वह गंगा है जिसमें स्नान करके हृदय की सारी कालिमा धुल जाती है अतएव आजकल के नवयुवक कवियों को रोते देख कर अधिक चिन्ता नहीं करनी चाहिए। जनता की रुचि देख कर ही ये लोग रो रहे हैं, यह कहना ठीक नहीं है। वह जनता को अपने घाव दिखाने

नहीं जाते। वरन् जो लोग स्वयं दुःखी हैं, उनके पास जाते हैं। यह स्वाभाविक बात है कि दो दुःखित हृदय जब एक दूसरे की बात सुनते हैं तो दोनों को शान्ति मिलती है। इस लिए यह रुदन निन्दनीय नहीं है। हाँ जो वेदना का अनुभव नहीं करते और रोने का स्वाँग भरते हैं उनका छल अधिक दिन नहीं चल सकता।

कविता संसार का हृदय है, कवि का हृदय स्वयं एक विश्व है। जिस प्रकार संसार में दुःख-सुख, वेदना-आनन्द, उदासी-उत्साह, शूल-फूल शिशिर-वसन्त अनेक परस्पर विरोधी वस्तुएं मिलती हैं, उसी प्रकार कविता में आह और वाह दोनों ही मिलेंगे। इस स्वाभाविकता को कोई भी दूर नहीं कर सकता। कवि प्रेमी है, प्रियतम नहीं, उसका हृदय विश्व है विश्वपति नहीं, उसकी वीणा प्रेम की बाँसरी है, हँसी मज़ाक और आनन्द की सारंगी नहीं, कवि हृदय वाला है हृदय-हीन नहीं, सौन्दर्योपासक है, सौन्दर्य-निन्दक नहीं, वह हँसता है, रोता भी है।

कवि-हृदय के पारखियों को अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि विषाद और करुणा, मानव-हृदय के स्वाभाविक गुण हैं। कुछ लोग प्रेम को शान्ति की खान बतलाते हैं, कुछ लोग वेदना की जड़। कुछ लोग कहते हैं प्रेम में आनन्द है आकुलता नहीं। कोई कहता है प्रेम के आनन्द में वेदना है, वेदना में आनन्द है। यह एक ऐसी उलझन है जिसका सुलझाने वाला कोई पैदा नहीं हुआ। दुनिया में न तो मिलन ही सदैव संभव है न विच्छेद, न आलिंगन न विसर्जन, न प्यार न तिरस्कार; न उलाहना न प्यार। जिस समय हृदय की भाषा में, उन्माद की परिभाषा

में अतृप्ति की नाप से नापते हैं तो हमें किसी भी दशा में पूर्णता प्राप्त नहीं होती। न तो हृदय अपने हृदय धन को पाकर संतोष करता है, और खोकर चाहता और कर सकता है उतना रोष। मिलन में भी विरह का अनुभव होता है। हम जो चाहते हैं वह पा लेते हैं पर फिर भी हमें संतोष नहीं होता, शान्ति नहीं होती, पाए हुए को खोने का डर अथवा और पाने की इच्छा हमारे साथ लगी रहती है। यही कारण है कि हमारा उपहार हमें अधूरा ही दीखता है। हमारी मनुहार हमें सदा सहमी सी प्रतीत होती है। हमारे उद्गार सदा लजाते से रहते हैं। हम जो पाते हैं उसे कृपण के धन की भाँति हृदय में छिपा कर रखते हैं फिर भी हमें अधिक की इच्छा रहती है। हम यह भी जानते हैं कि जो कुछ उसके पास था उसने हमें दे दिया। फिर भी जी नहीं मानता। यही तो अतृप्ति का उन्माद है और अतृप्ति के कारण विषाद हमारे हृदय में अपना राज्य स्थापित कर लेता है।

इसी अतृप्ति को और इससे पैदा होने वाली बेचैनी और उन्माद को उर्दू के प्रख्यात गल्पकार श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने अपनी एक छोटी सी गल्प में दर्शाया है। शीर्षक है 'अतृप्ति', लिखते हैं—

"जब पतझड़ का राज्य था और बेलों के गहने वायु में छिपे हुए अज्ञात निर्दय डाकुओं ने लूट लिए थे। जब वृक्ष अपने नंगेपन को, अपनी कंगाली को हसरत भरी आँखों से ताक रहे थे, और जब वाटिकाओं में पागल बयार को सुगन्धि के बदले पौधों के उतप्त निश्वास मिलते थे, मुझे 'रूप' और 'प्रेम' किसी की तलाश में भटकते हुए नज़र आए।

उनके बाल बेपरवाही के जगत में बिखरे हुए थे, चेहरे ज़र्द थे, अधर शुष्क थे और उनकी आँखों की मस्ती अस्त हो चुकी थी।

मैंने उन्हें रोक लिया और पूछा, तुम्हें किस वस्तु की खोज है।

"वसन्त की" उन्होंने उत्तर दिया और फिर अपनी खोज में व्यस्त हो गए।

❀ ❀ ❀

जब वसन्त की हुकूमत थी और लताएँ, पुष्प-आभूषणों से आवृत, झूले झूल रही थीं; जब वृक्ष अपनी नयनाभिराम वेष-भूषा को देख कर गर्व से फूले न समाते थे, जब वाटिकाओं में प्रमत्त बयार जी भर कर सुगन्धि से अपनी झोली भर रहा था, मुझे रूप और प्रेम फिर दिखाई दिए।

उनके केश सुन्दरता से गुँथे हुए थे, मुख अरुणि उषा की भाँति लाल थे, अधरों से सुधा टपकी पड़ती थी और आँखों में सहस्रों मदिरालय छिपे हुए थे। पर वह अब भी किसी की खोज में भटक रहे थे।

मैंने उन्हें रोक लिया और पूछा अब तुम्हें किस चीज़ की तलाश है।

"अनन्त वसन्त की" पल भर रुक कर उन्होंने उत्तर दिया और अपनी पागल खोज में लग गए।

हाँ, तो मैं कहता हूँ कि अतृप्ति का यह उन्माद और इस उन्माद के कारण पैदा होने वाला विषाद और अशान्ति हमारे लिए चिन्तनीय नहीं है, निन्दनीय नहीं है।

जो हमारे पास है, उसे हम नित्य खोजते हैं। हमें प्रतीत होता

है कि वह हमें मिल कर भी नहीं मिलता। हम आकाश की ओर देखते हैं वह चमकता है—फिर भी उसे किसी दूसरे रूप में देखना चाहते हैं। उसके उस रूप की खोज करते हैं। सदा ही उसे नये नये रूपों में देखते हैं, लेकिन हमारा अभिलषित रूप नहीं मिलता। हृदय टटोलते हैं, वह वहाँ भी बोलता है। लेकिन उसके स्वर में ममता की मिठास कुछ अधिक चाहते हैं। यही अतृप्ति है। प्रेम और अतृप्ति का अमर संयोग है। भगवान् ने यह शरीर ऐसा बन्दीगृह बनाया है, जिसकी खिड़की से हम अपने प्रियतम को देखते हैं, लेकिन उसे पा नहीं सकते। जिस दिवस इस बन्दीगृह से छुटकारा मिलता है, फिर किसी दूसरे कारागार में डाल दिए जाते हैं। जब तक कवि शरीर में है, जीवित है, वह अतृप्त रहेगा। वह करुण रागिणी छेड़ना नहीं छोड़ सकता।

आँखें क्या छोड़ेंगी करना अपनी करुणा का शृंगार
हृदय बहा सरिता सा कवि का रोक सकेगा क्या संसार ?

अतृप्ति कवि का जीवन-संगीत है। कोई प्रेम करके शान्ति चाहे तो मनुष्य जीवन प्रेम और शान्ति यह तीनों चीज़ें साथ नहीं रह सकतीं। इन में दो चीज़ें साथ रह सकती हैं, तीसरी नहीं। प्रेम का सौन्दर्य वेदना में चमकता है। प्रेम की पवित्रता हृदय की ज्वाला से बनती है। त्याग की आग में अनुराग का रूप अपनी सच्ची अवस्था में दिखाई देता है। जिस समय हमारी अभिलाषाओं की राख हमारे चरणों के पास पड़ी दिखाई देती है उस समय भी प्रेम के वेग का न रुकना यही प्रेम की शोभा है। जिस समय हम वेदना से बेहोश हो जाते हैं, उस समय हृदय

जो कुछ कहता है वही सच्ची कविता है। उसे समझने के लिए उसी बेहोशी तक पहुँचने की आवश्यकता है। हमारी बेहोशी की नीरव भाषा में जो अस्फुट, निस्वर उद्गार निकलते हैं, यदि हम उन्हें चित्रित कर सकें तो यही कला की पूर्णता है। इस पूर्णता तक संसार का कोई भी कवि नहीं पहुँचा है। नशे के उतार में लिखी हुई कविताएँ पीड़ा से उतनी तर नहीं होती, जितनी कि उन्हें होना चाहिए जिसकी एक ही तान से, पाठक के, श्रोता के हृदय की समस्त वेदना जाग उठे वह रो पड़े और रोने के बाद उसका हृदय हलका हो जाए। अधूरी पीड़ा से भरी कविताएँ पाठक को आकुल तो कुछ कुछ कर देती हैं परन्तु रुला नहीं पातीं। इसी कमी को पूरा करना चाहिए न कि हमारे साहित्य से करुणा का बहिष्कार। यदि कविता से करुण रस निकाल दें तो उसकी सारी कोमलता, सारी मिठास दूर हो जाएगी। पीड़ा को मीठी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए न कि उसे खदेड़ने का व्यर्थ प्रयास।

इस समय मानव-हृदय की जो करुण दशा है, उसे देखते हुए किस का हृदय हँस सकता है? हमारे कवि भी अपार उलझनों में फँसे हुए हैं, ऐसे समय में उनके गीतों में आनन्द की रागिनियाँ ढूंढना अस्वाभाविक है। अपनी वासनाओं पर अधिकार रखने का अर्थ यह नहीं है कि हृदय की स्वाभाविक स्थिति को छुपा कर, अन्तर की आग को बरबस दबा कर, एक कृत्रिम शान्ति की धारा बहा दें। यह प्रयास असफल होगा इस से न केवल कवि को ही शान्ति न मिलेगी, बल्कि विश्व को भी धोका होगा। साहित्य की स्वाभाविकता की ओर जाने दो। यही कला है।

जिनके हृदय में आनन्द है, वे आनन्द की रागिनियाँ गाएँ; जिनके हृदय में विषाद है वह करुण गान गाएँ।

जग के कण-कण से बहता है कोई करुणा का संगीत
कुछ ऐसा लगता है मानो जग ही है करुणा का गीत
सब ही सौरभ नीड़ से उड़ कर होते व्यथा गगन में लीन
सब का अंतस्तल दिखता है किसी वेदना में तल्लीन

मैंने ऊपर जो लिखा है, "मनुष्य जीवन प्रेम और शान्ति ये तीनों चीज़ें साथ नहीं रह सकतीं इन में से कोई दो चीज़ें साथ रह सकती हैं" कोई हृदय इसे मेरा भ्रम समझ सकता है।

विनिमय नहीं किन्तु लय ही है
सकल साधनाओं का सार

इस सिद्धान्त को मानने वाले जब तक अपने प्रियतम से अलग तरस रहे हैं क्या वे पूर्ण शान्ति पा सकते हैं। इस शरीर के बन्धन को दूर कर, इस कैदखाने से छूट कर अपने प्यारे में मिल कर ही पूर्णता प्राप्त होती है, जब तक यह पूर्णता नहीं मिलती, तब तक आत्मा अतृप्त है और अतृप्ति अशांति को निमंत्रण देती है।

तुम से मिलकर तो ऐ प्यारे,
दूनी पीड़ा बढ़ जाती!
हाँ, यदि तुम में मिल पाता,
तो यह व्याकुलता मिट पाती!
तुम औ मैं जब तक दो दो हैं,

तब तक बुझती प्यास नहीं !
प्रेमी के एकान्त प्रेम को,
दो पर है विश्वास नहीं !

प्रेम का वेग द्वैत भाव को सहन नहीं करता। वह दो की दीवार तोड़ डालना चाहता है। यही कारण है कि प्रेम, जीवन और शान्ति एक साथ नहीं रह सकते। हमें कैसी भी सुन्दर प्राप्ति हो जब तक हम अपना अस्तित्व मिटा ही नहीं देते तब तक दूसरी प्राप्ति के लिए लालायित होते रहते हैं। आत्मा और परमात्मा दोनों अलग अलग दो शरीर में, दो कैदखानों में नहीं रहना चाहते। वह इस कृत्रिम दीवार को तोड़ डालने को व्याकुलता हो जाते हैं। यही व्याकुलता अशान्ति है। जो लोग अशान्ति का सम्बन्ध केवल विलास के संसार में रखना चाहते हैं क्या वे अशान्ति को ठीक ठीक समझ पाए हैं, अशान्ति कोई बुरी चीज़ नहीं, वह हमें पूर्णता की ओर ले जाती है। वह हमारी पूर्णता के लिए अपना नाश कर लेती है। अशान्ति के बराबर उपकारी प्रवृत्ति क्या कोई दूसरी है? अतएव, जिन कवियों की तानों में आकुलता है, अतृप्ति है, अशान्ति है, पूर्णता प्राप्त करने की प्यास है, वे तानें मानव-हृदय का स्वाभाविक और सुन्दर चित्रण हैं, वे घातक नहीं। कवि के हृदय की अशान्ति दूसरे पीड़ित लोगों को आश्वासन ही देगी, उन्हें सतावेगी नहीं। जिन्होंने, अशान्ति की मंगलमयी मूर्ति का महत्व पहचाना है, वे कभी इसको निन्दा नहीं करेंगे। स्वाभाविकता को छोड़ कर कोई ऐसी रचना नहीं दे सकता जो सारे संसार के हृदय में समान अधिकार पावे। पतझड़ जैसे वसन्त की

जननी है, वैसे ही अशान्ति शान्ति के दर्शन कराने वाली है। जो साहित्य में केवल शान्ति को ही अथवा अशान्ति को ही स्थान देना चाहते हैं, उनकी रचनाएँ सदा अधूरी रही हैं। वे न संसार को शान्त ही कर सकेंगे, न पूर्णता प्राप्त करने के लिए अग्रसर।

अपनी बात

इस पुस्तक में मैंने आधुनिक युग की कविताओं का परिचय मात्र कराया है। आधुनिक युग की कविता का इतिहास लिखने का मेरा उद्देश्य नहीं है। अतः जिन कवियों को इस पुस्तक में स्थान नहीं मिला उन्हें कोई शिकायत न होनी चाहिए। इस युग के प्रारम्भ में अनेक कवियों ने बहुत सुन्दर रचनाएँ की थीं, पर अब मानों उनके प्राण सो गए हैं। गुलाब रत्न बाजपेयी, जनार्दन झा द्विज, रामनाथ 'सुमन', रमाशंकर शुक्ल 'हृदय', लक्ष्मीनारायण मिश्र, आदि को आधुनिक हिन्दी कविता का इतिहास लिखते समय भूला नहीं जा सकता। फ़िलहाल ये कवि-गण सुप्त प्राय हैं और मैंने इस संग्रह में यदि इस में से किसी को छोड़ दिया है तो उनके पुनर्जागरण की प्रतीक्षा में ही। निकट भविष्य में मेरा विचार आधुनिक हिन्दी कविता का इतिहास लिखने का है। उस समय सभी दृष्टियों से पुस्तक को विस्तृत और प्रामाणिक बनाने का प्रयत्न करूंगा। इस समय तो पाठक मेरी त्रुटियों को क्षमा कर दें।

हरिकृष्ण 'प्रेमी'

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र

[जन्म संवत १६०७—मृत्यु संवत् १६४२]

भारतेन्दु प्राचीन और नवीन कविता धारा के 'लिंक' अथवा दोनों प्रकार की कविता-दिशाओं की सन्धि कहे जा सकते हैं। ये एक प्रकार से नवीन कविता-धारा के मुखबन्ध हैं। इनके काव्य में शृंगार के साथ साथ अन्य रसों का भी यथेष्ट मात्रा में परिपाक हुआ है। भावों, कल्पनाओं एवं अनुभूतियों को नया योग प्राप्त हुआ है। प्राचीन विचारों को नवीन उपमाओं, रूपकों और उत्प्रेक्षाओं का परिच्छद प्राप्त हुआ है। इनकी भाषा में खड़ी बोली और ब्रजभाषा का सामंजस्य दिखाई देता है। इनकी कविता शृंगार के साथ जातीयता, सामाजिक विचार स्वातन्त्र्य, देशभक्ति आदि सामयिक रंगों में डूब कर निकली है। इनकी कविता में प्रकृति सौन्दर्य तो अपूर्व ही है। प्रकृति-सौन्दर्य की कुछ कवितायें तो अब तक नवीन हैं।

इन्होंने लगभग अठाईस छोटे-बड़े काव्य, छै स्तोत्र, उन्नीस परिहास, सत्ताइस ऐतिहासिक ग्रन्थ, बीस नाटक और आठ उपन्यास तथा आख्यायिकाएँ आदि लिखकर हिन्दी भाषा को नये रूप में अंकुरित किया। इसी लिये ये आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता कहे जाते हैं।

प्रकृति वर्णन

(१)

तरनि-तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाए।
झुके कूल सों जल-परसन हित मनहुँ सुहाए।।
किधौं मुकुर मैं लखत उझकि सब निज निज सोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा।।
मनु आतप, वारन तीर को सिमिट सबै छाए रहत।
कै हरि सेवा हित नै रहे निरखि नैन मन सुख लहत ।। १ ।।

कहूँ तीर पर अमल कमल सोभित बहु भाँतिन।
कहुँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन।।
मनु दृग धार अनेक जमुन निरखत निज सोभा।
कै उमगे प्रिय प्रिया प्रेम के अनगिन गोभा।।
कै करि के कर बहु पीय को टेरत निज ढिंग सोहई।
कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई।। २ ।।

कै पिय पद उपमान जानि एहि निज उर धारत।
कै मुख करि बहु भृङ्गन मिस अस्तुति उच्चारत।।

कै ब्रज तियगन बदन कमल की झलकत झाईं।
कै ब्रज हरि पद-परस-हेत कमला बहु आईं॥
कै सात्विक अरु अनुराग दोउ ब्रज मण्डल बगरे फिरत।
कै जानि लच्छमी भौन एहि करि सतधा निज जलधरत॥ ३॥

तिन पै जेहि छिन चन्द जोति राका निसि आवति।
जल मैं बिल कै नभ अवनी लौं तान बनावति॥
होत मुकुर मय सबै तबै उज्जल इक ओभा।
तन मन नैन जुड़ात देखि सुन्दर सो सोभा॥
सो को कवि जो छवि कहि सकै ताछन जमुना नीर की।
मिलि अवनि और अम्बर रहत छवि इक सी नभ नीर की॥ ४॥

परत चन्द्र-प्रतिबिम्ब कहूँ जल मधि चमकायो।
लोल लहर लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो॥
मनु हरि दरसन हेत चन्द जल बसत सुहायो।
कै तरंग कर मुकुर लिए सोभित छवि छायो॥
कै रास रमन मैं हरि-मुकुट-आभा जल दिखरात है।
कै जल-उर हरि-मूरति बसत वा प्रतिबिम्ब लखात है॥ ५॥

कबहुँ होत सत चन्त कबहुँ प्रगटत दुरि भाजत।
पवन गवन बस विम्ब रूप जल में बहु साजत॥
मनु ससि भरि अनुराग जमुन जल लोटत डोलै।
कर कै तरंग की डोर हिंडोरन करत कलोलै॥

कल बाल-गुड़ी नभ में उड़ी सोहत इत उत धावती।
कै अवगाहत डोलत कोऊ ब्रजरमनी जल आवती ॥ ६ ॥
मनु जुग पच्छ प्रतच्छ होत मिटि जात जमुन जल।
कै तारागन ठगन लुकत प्रगटत ससि अविकल ॥
कै कालिन्दी नीर तरङ्ग जितो उपजावत।
तितनो ही धरि रूप मिलन हित तासों धावत ॥
कै बहुत रजत चकई चलत कै फुहार जल उच्छरत।
कै निसिपति मल्ल अनेक विधि उठि बैठत कसरत करत ॥ ७ ॥

कूजत कहुँ कल हँस कहूँ मज्जत पारावत।
कहुँ कारण्डव उड़त कहूँ जलकुक्कर धावत।
चक्रवाक कहुँ बसत कहूँ बक ध्यान लगावत।
सुक पिक जल कहुँ पियत कहूँ भ्रमरावलि गावत ॥
कहुँ तट पर नाचत मोर बहु रोर विविध पच्छी करत।
जल पान न्हान करि सुख भरे तट सोभा सब जिय धरत ॥ ८ ॥

कहूँ बालुका विमल सकल कोमल बहु छाई।
उज्जल झलकत रजत सिढ़ी मनु सरस सुहाई ॥
पिय के आगम हेत पाँवड़े मनहुँ बिछाये।
रत्न रासि करि चूर कूल में मनु बगराये ॥
मनु मुक्त मांग सोभित भरी श्याम नीर चिकुरन परसि।
सतगुन छायो तीर में ब्रजनिवास लखि हिय हरसि ॥ ९ ॥

— ———

देशदशा

(२)

जहाँ बिसेसर सोमनाथ माधव के मन्दर।
तहाँ महजद बन गई होत अब अल्ला अकबर॥
जहँ झूसी उज्जैन अवध कन्नौज रहे बर।
तहँ अब रोवत सिवा चहुँ दिशि लखियत खँडहर॥
जहाँ धन विद्या बरसत रही सदा अबै वाही ठहर।
बरसत सब ही विधि बेबसी अब तो चेतौ वीरवर॥

कहँ गए विक्रम भोज राम बलि कर्ण युधिष्ठिर।
चन्द्रगुप्त चाणक्य कहाँ नासे करि के थिर॥
कहँ छत्री सब मेर बिनसि सब गए किते गिर।
कहाँ राज को तौन साज जेहि जानत हे चिर॥
कहँ दुर्ग सैन धन बल गयो, धूरहि धूरि दिखात जग।
उठि अजौं न मेरे वत्सगन, रच्छहिं अपनो आर्य मग॥

(३)

जागो जागो रे भाई।
सोअत निसि बैस गँवाई। जागो जागो रे भाई।
निसि की कौन कहे दिन बीत्यो काल राति चल आई॥
देख परत नहिं हित अनहित कछु परे बैरि बस आई।
निज उद्धार पंथ नहिं सूझत सीस धुनत पछिताई॥

अबहूँ चेति पकरि राखौ किन जो कछु बची बड़ाई ।
फिर पछताए कछु नहिं ह्वै है रहि जैहौ मुँह बाई ॥

(४)

सब भाँति दैव प्रतिकूल होय एहि नासा ।
अब तजौ बीरवर भारत की सब आसा ॥ ध्रुव ॥

अब सुख सूरज को उदय नहीं इत ह्वै है ।
सो दिन फिर इत अब सपनेहु नहिं ऐहै ॥
स्वाधीनपनो बल धीरज सबै नसैहै ।
मंगलमय भारत भुव मसान ह्वै जैहै ॥
दुख ही दुख करि है चारहुँ ओर प्रकासा ।
अब तजहु बीरवर भारत की सब आसा ॥ १ ॥

इत कलह विरोध सबन के हिय घर करि है ।
मूरखता को तम चारों ओर पसरि है ॥
वीरता एकता ममता दूर सिधरि है ।
तजि उद्यम सब ही दास-वृत्ति अनुसरि है ॥
ह्वै जैहैं चारहु बरन शूद्र बनि दासा ।
अब तजहु बीरवर भारत की सब आसा ॥ २ ॥

ह्वै हैं इत के सब भूत पिसाच उपासी ।
कोऊ बनि जैहैं आपहु स्वयं प्रकासी ॥

नसि जैहैं सिगरे सत्य धर्म अविनासी ।
तज हरि सो ह्वै हैं विमुख भारत भुव वासी ॥
तजि सुपथ सबहि जन करिहैं कुपथ बिलासा ।
अब तजहु बीरवर भारत की सब आसा ॥ ३ ॥

अपनी वस्तुन कहँ लखिहैं सबहि पराई ।
निज चाल छोड़ि गहि हैं औरन की धाई ॥
तुरकन हित करिहैं हिन्दू संग लराई ।
यवनन के चरनहिं रहिहैं सीस चढ़ाई ॥
तजि निज कुल करिहैं नीचन संग निवासा ।
अब तजहु बीरवर भारत की सब आसा ॥ ४ ॥

रहे हमहुँ कबहुँ स्वाधीन आर्य बन धारी ।
यह दैहैं जिय सों सब ही बात बिसारी ॥
हरि बिमुख धरम बिनु धन बल हीन दुखारी ।
आलसी मन्द तन छीन छुवित संसारी ॥
सुख सो सहिहैं सिर यवन पादुका त्रासा ।
अब तजहु बीरवर भारत की सब आसा ॥ ५ ॥

(५)

जग में पतिव्रत सम नहिं आन ।
नारि हेतु कोऊ धर्म न दूजो जग में यासु समान ॥
अनुसूया सीता सावित्री इनके चरित प्रमान ।

पतिदेवता तीय जग धन धन गावत वेद पुरान।
धन्य देस कुल जहँ निवसत हैं नारी सती सुजान।
धन्य समय जब जन्म लेत थे धन्य ब्याह अस्थान॥
सब समर्थ पतिबरता नारी इन सम और न आन।
याही ते स्वर्गहु में इनको करत सबै गुनगान॥

(६)

चलहु बीर उठि तुरत सबै जय ध्वजहि उड़ाओ।
लेहु म्यान सों खड्ग खींचि रनरंग मचाओ।
परि कर कसि कटि उठो धनुष पै धरि सर साधौ।
केसरिया बानो सजि सजि रनि कंकन बाँधौ।

जो आरज गन एक होय निज रूप सम्हारैं।
तजि गृह-कलहहि अपनी कुल मरजाद बिचारैं॥
तौ ये इतने नीच कहा इनको बल भारी।
सिंह जगे कहुँ स्वान ठहरिहैं समर मझारी॥

पदतल इन कहँ दलहु कीट तृन सरिस जवन चय।
तनिकहुँ संक न करहु धर्म जित जय तित निश्चय॥

आर्य वंश को बधन पुन्य जा अधम धर्म मैं।
गो-भच्छन द्विज श्रुति हिंसन नित जासु कर्म मैं॥
तिनकौ तुरतहिं हतौ मिलैं रन के घर माहीं।
इन दुष्टन सों पाप किए हूँ पुन्य सदा ही॥

चिउँटिहु पदतल दबै डसत ह्वै तुच्छ जंतु इक।
ये प्रतच्छ अरि इनहिं उपेछै जौन ताहि धिक॥
धिक तिन कहँ जो आर्य होइ जवनन को चाहैं।
धिक तिन कहँ जे इनसों कछु सम्बन्ध निबाहैं॥
उठहु वीर तलवार खींचि मारहु घन संगर।
लोह लेखनी लिखहु आर्य बल जवन हृदय पर॥
मारू बाजे बजैं कहौं धौंसा घहराई।
उड़हिं पताका सत्रु हृदय लखि लखि थहराई॥
चारन बोलहिं आर्य सुजस बन्दीगुन गावैं।
छुटहि तोप घनघोर सबै बन्दूक चलावैं॥
चमकहिं असि भाले दमकहिं ठनकहिं तन बखतर।
हींसहि हय भानवहिं रथ गज चिक्करहिं समर थर॥
घनमहिं नासहिं आर्य नीच जवनन कहँ करि छय।
कहु सबै भारत जय भारत जय भारत जय॥

(७)

पहिले ही जय मिले गुन में श्रवन फेर
रूप सुधा मधि कीनौ नैन हूँ पयान है।
हँसनि नटनि चितवनि मुसकानि सुघराई
रसिकाई मिलि गति पय पान है।
मोहि मोहि मोहन भई री मन मेरो भयो
'हरिचन्द' भेद ना परत कछु जान है।

कान्ह भये प्रान भयो कान्हमय
हिय मैं न जान्यो परै कान्ह है कि प्रान है ॥

(८)

प्यारो पैये केवल प्रेम में ।
नहीं ज्ञान में नहीं ध्यान में नहिं कर्म कुल नेम में ॥
नहिं मन्दिर में नहिं पूजा में नहिं घंटा की घोर में ।
हरिचंद वह बँध्यौ डोले एक नेम की डोर में ॥

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

[जन्म संवत् १६२५ मृत्यु सं० १६६४]

राय साहब बड़े देशभक्त, स्पष्टवादी, धर्मपरायण, हास्यप्रिय और विनोदी कवि थे। आपने ब्रज-भाषा और खड़ी-बोली दोनों में ही कविताएँ की हैं। ये प्रकृति-सौन्दर्य और वेदान्त सम्बन्धी कविताएँ किया करते थे। आपकी कविताएँ कोमल शब्द-विन्यास युक्त होती थीं। इन्होंने देशभक्ति और समाज-सुधार की कविताएँ भी लिखी हैं। हिन्दी और संस्कृत दोनों प्रकार के छन्दों में रचनाएँ की हैं। तत्कालीन कवियों में आपका यथेष्ट सम्मान था। विचारों से आप थियासोफ़िस्ट थे इसलिये इनकी कविताओं में विश्व-बन्धुत्व की भावनाओं के दर्शन भी होते हैं। आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्ध की कल्पनायें आपकी रचनाओं में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं। आप लन्दन की रायल एशियाटिक सोसायटी के सदस्य भी थे। आपकी लिखी पुस्तकों में चन्द्रकला, भानुकुमार (नाटक) तथा धाराधर धावन आदि रचनाएँ प्रसिद्ध हैं।

वर्षा का आगमन

सुखद सीतल सुचि सुगन्ध पवन लागी बहन।
सलिल बरसन लगी बसुधा लगी सुखमा लहन॥
लहलहो लहरान लागी सुमन बेली मृदुल।
हरित कुसुमित लगे झूमन वृच्छ मंजुल विपुल॥ १॥
हरित मनि के रंग लागी भूमि मन को हरन।
लसति इन्द्र बधून अवली छटा मानिक बरन॥
बिमल बगुलन पाँति मनहुँ बिसाल मुक्तावली।
चन्द्रहास समान चमकति चञ्चला त्यों भली॥ २॥
नील नीरद सुभग सुरधनु बलित सोभा धाम।
लसत मनु बनमाल धारे ललित श्री घनश्याम॥
कूप कुण्ड गम्भीर सरवर नीर लाग्यो भरन।
नदी नद उफनान लागे लगे झरना झरन॥ ३॥
रटन दादुर त्रिविध लागे रुचन चातक बचन॥
कूक धावत मुदित कानन लगे केकी नचन॥
मेघ गर्जत मनहुँ पावस भूप को दल सकल।
विजय दुन्दभि हनत जग में छीनि ग्रीसम अमल॥ ४॥

———

भरत-वाक्य

लक्ष्मी दीजै लोक में मान दीजै,
विद्या दीजै सभ्य सन्तान दीजै।
हे हे स्वामी प्रार्थना कान कीजै।
कीजै कीजै देश-कल्याण कीजै ॥ १ ॥

सुमति सुखद दीजै फूट को लोग त्यागैं।
कुमति हरन कीजै द्वेष के भाव भागैं॥
तजि कुसमय निद्रा चित्त सो चित्त जागैं।
विषम कुपथ त्यागैं नीति के पंथ लागैं॥ २ ॥

तन्द्रा त्यागैं लहि कुशलता होंहि व्यापार-नेमी।
सीखें नीकी नव नव कला होंहि उद्योग-प्रेमी॥
पूरे रूरे नियम विधि सों स्वस्थता के निबाहैं।
उत्कण्ठा सों दिवस-निसि हूँ देश की वृद्धि चाहैं॥ ३ ॥

पावैं पूरी प्रतिष्ठा कबिबर जग के शुद्ध साहित्य-ज्ञानी।
होवैं आसीन ऊंचे सुजन विदित जे देश सेवाभिमानी॥
पीड़ा दुर्भिक्ष वारी जुग जुग कबहूँ प्रान्त कोऊ न पावैं।
दीर्घायु लोग होवैं तिन ढिग कबहूँ रोग कोऊ न आवैं॥४॥

सत्संग सन्त-सुर-पूजन धेनु-प्रेम,
श्रीराम-कृष्ण-चरितामृत-पान-नेम।

सौजन्य भाव गुरु सेवन आदि प्यारे,
सम्पूर्ण शील शुभ पावहिं देश वारे ॥ ५ ॥

अन्याय को अङ्ग कहूँ रहै ना,
दुर्नीति की शंक कहूँ रहैना।
होवै सदा मोद विनोद कारी,
राजा प्रजा में अनुराग भारी ॥ ६ ॥

समस्त वर्णाश्रम धर्म मानैं,
सदा हि कर्तव्य प्रधान जानैं।
जती तपस्वी बुध वीर होवैं,
बली प्रतापी रणधीर होवैं ॥ ७ ॥

मृत्युञ्जय

प्रतिनिधे खल काल कराल के।
कुटिल क्रूर भयानक पातकी ॥
अति विलक्षण है तव दुष्क्रिया।
अशुच मृत्यु अरे अधमाधम ॥ १ ॥
करन सैर हुते कल बाग की।
तुरँग बाग गहे कर रेशमी ॥
सुनि परे तिन की अब बारता।
चल बसे तजि के जग बाग सों ॥ २ ॥

रतन मन्दिर मञ्जु अमन्द में ।
रमत जौन निरन्तर ही रहे ॥
दिवस अन्तर में सोइ सोवहीं ।
अब भयंकर घोर मसान में ॥ ३ ॥

मखमली मृदु मञ्जुल तूल की ।
सुमन रञ्जित सेज बिहाय के ॥
मृदुल अङ्गन के लखिये परे ।
कठिन काठ चिता परयंक पै ॥ ४ ॥

गति सुधारन की करि धारना ।
उचित है चित धीरज धारियो ॥
झरित हो अथवा कुछ काल में ।
अवशि जीतहिंगे हम काल को ॥ ५ ॥

सकल पापन सों बचिके सदा ।
शुभ सुकर्म करौ बिन बासना ॥
परम सार रहे नित ध्यान में ।
सुखद पन्थ यही वर ज्ञान को ॥ ६ ॥

जगत है मन की सब कल्पना ।
दृढ़ जबै यह निश्चय होत है ॥
जगत भासत पूरन ब्रह्म ही ।
बस यही परिपूरन ज्ञान है ॥ ७ ॥

पर दशा वह पूरन ज्ञान की।
स्थिर सदा रस एक रहै नहीं॥
न जब लौं मन को बस कीजिए।
तज सबै जड़जङ्गम वासना॥ ८॥

सुहृद संग सहोदर सुन्दरी।
सुखद सन्तति धाम वसुन्धरा॥
सुजस सम्पति की मन कामना।
सबन को बस बन्धन मानिए॥ ९॥

दनुज बंस भुजङ्गम देवता।
मनुज कुंजर भृङ्ग बिहङ्गम॥
विपिन तुङ्ग तड़ाग तरङ्गिनी।
जलद वृन्द दिवाकर चन्द्रमा॥ १०॥

गगन मध्य धरातल मध्य में।
अरु रसातल में जितनो जितै॥
सकल सो जड़ जङ्गम जानिए।
असत पञ्च प्रपञ्च बिरञ्चि को॥ ११॥

यदि लखात असार जहान है।
कुढ़त जो जग बन्धन ते हियो॥
उदित जो उर मुक्ति सुकामना।
करहु तो तुम साधन ज्ञान को॥ १२॥

तिमिर नाश प्रकाश बिना नहीं ।
घन विलात न बात बिना यथा ॥
न बरखा बिन जात निदाघ ज्यों ।
मिटत काल नहीं बिन ज्ञान के ॥ १३ ॥

बिलग बारिधि ते न तरङ्ग है ।
पृथकता वरु मन्द विचारहीं ॥
लहर अम्बुधि दोनहुँ अम्बु हैं ।
जगत ब्रह्ममयी तिमि जानिए ॥ १४ ॥

कनक के वरु कङ्कन किङ्किनी ।
अमित आकृति के रचिये तऊ ॥
कनक ते नहिं अन्य कछू तथा ।
सकल ब्रह्ममयी जग जानिए ॥ १५ ॥

पवन भासत नाहिं बिना चले ।
अरु चले वह भासन लागई ॥
अचल चञ्चल है इक ही हवा ।
पृथक मूढ़ भलो समझौ करै ॥ १६ ॥

यहि प्रकार अचञ्चल ब्रह्म में ।
स्फुरण चञ्चलता सम जानिए ॥
जगत भासन लागत है सही ।
पृथक तौन नहीं पर ब्रह्म सों ॥ १७ ॥

भवन में मठ में घर में यथा।
गगन देखि अनेक परै तऊ॥
बिमल बुद्धिन को नभ एक है।
सबन में परमातम है यथा॥ १८॥

स्फुट

पुर्जे किसी मशीन के हों कहने को साठ।
बिगड़े उन में एक तो हों सब बारह बाठ॥
हों सब बारह बाठ बंद हो चलना कल का।
छोटा हो या बड़ा किसी को कहो न हलका॥
है यह देश मशीन लोग सब दर्जे दर्जे।
चलें मेल के साथ उड़ें क्यों पुर्जे पुर्जे॥ १॥

चीनी ऊपर चमचमी भीतर अति अपवित्र।
करते हो व्यवहार तुम है यह बात विचित्र॥
है यह बात विचित्र अरे निज धर्म बचाओ।
चौपायों का रुधिर अस्थि अब अधिक न खाओ॥
है यह पक्की बात बड़ों की छानी बीनी।
करो भूल स्वीकार करो मत नुक्ताचीनी॥ २॥

चींटी, मक्खी शहद की, सभी खोज कर अन्न।
करते हैं लघु जन्तु तक, निज गृह को सम्पन्न॥
निज गृह को सम्पन्न करो स्वच्छन्द मनुष्यो!
तजो तजो आलस्य अरे मतिमन्द मनुष्यो!
चेत न अब तक हुआ मुसीबत इतनी चक्खी।
भारत की सन्तान बने हो चींटी, मक्खी॥ ३॥

———

माता के समान पर पत्नी बिचारी नहीं,
रहे सदा पर धन लेन ही के ध्यान में।
गुरु-जन पूजा नहीं कीन्हीं शुचि भावन सी,
गीधे रहे नाना विधि विषय विधानन में॥
आयुस गँवाई सबै स्वारथ सँवारन में,
खोज्यो परमारथ न वेदन पुरानन में।
जिनसों बनी न कुछ करत मकानन में,
तिनसों बनैगी करतूत कौन कानन में॥

———

पूरन सप्रेम जो न लेत मुख राम नाम,
टीका अभिराम है निकाम तासु आनन में ।
उर में नहीं जो हरि मूरति बिराजी मंजु,
कौन महिमा है कंठ मालन के दानन में ॥

आसन को नेम बिना वासना नमाये मिथ्या,
बिन श्रुति ज्ञान होत मुद्रा बृथा कानन में ।
चहिए सुप्रीति धर्म कर्म के विधानन में,
रहिए मकानन में चाहे घोर कानन में ॥

———

श्रीधर पाठक

(जन्म संवत् १६१६–मृत्यु संवत् १६८५)

पाठक जी ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों के पूर्ण विद्वान थे। आपकी सर्व प्रथम रचना 'एकान्तवासी योगी' थी। जो लावनी के ढंग पर लिखी गई थी। इसमें ब्रजभाषा का सा माधुर्य है। इसके बाद गोल्डस्मिथ के 'ऊजड़ गाँव' का आपने अनुवाद किया। ये प्रकृत कवि थे। इन्होंने जो कुछ लिखा है वह अधिकार पूर्ण ढंग से लिखा है। पाठक जी प्रकृति-सौन्दर्य के उस समय के सब से अच्छे लेखक होने के अतिरिक्त राष्ट्रीय कवि भी थे। इनकी कई रचनाएँ अब तक बड़े प्रेम से गाई जाती हैं। 'काश्मीर सुषमा' इनका बड़ा सुन्दर काव्य है, जो हिन्दी के लिये एक 'अनुपम देन' कही जा सकती है। आपने हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सभापति का भी आसन सुशोभित किया था।

इनकी भाषा व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध खड़ी बोली नहीं कही जा सकती। खड़ी बोली की रचनाओं में भी इन्होंने पावै, विलखै, हरसै आदि ग्राम्य शब्दों का प्रयोग किया है। परन्तु इनकी भाषा के सौन्दर्य में कभी कभी नहीं आई। इनकी कविता कोमलावृत्ति का उत्कृष्ट उदाहरण है।

शब्द-संयोजन में सुन्दरता सरलता स्वयं उछली सी पड़ती है। मधुर और सरस रचना में पाठक जी अपने समय के अनूठे कवि थे।

अब तक इनके जितने ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं उनके नाम ये हैं— आराध्य शोकांजलि, श्रीगोखले प्रशस्ति, एकान्तवासी योगी, ऊजड़ ग्राम, श्रान्त पथिक, काश्मीर सुषमा, मनोविनोद, श्रीगोखले गुणाष्टक, देहरादून, तिलस्माती मुँदरी, गोपिका गीत, भारत गीत।

———

(१)

ध्यान लगाकर जो तुम देखो सृष्टी की सुघराई को।
बात बात में पाओगे उस ईश्वर की चतुराई को॥
ये सब भाँति भाँति के पत्ती ये सब रंग रंग के फूल।
ये बन की लहलही लता नव ललित ललित शोभा के मूल॥
ये नदियाँ ये झील सरोवर कमलों पर भौरों की गुञ्ज।
बड़े सुरीले बोलों से अनमोल घनी वृक्षों की कुञ्ज॥
ये पर्वत की रम्य शिखा औ शोभा सहित चढ़ाव उतार।
निर्मल जल के सोते झरने सीमा रहित महा विस्तार॥
छै प्रकार की ऋतु का होना नित नवीन शोभा के सङ्ग।
पाकर काल वनस्पति फलना रूप बदलना रङ्ग-बिरङ्ग॥
सूर्य-चाँद की शोभा अद्भुत बारी से आना दिन-रात।
त्यों अनन्त तारामण्डल से सज जाना रजनी की गात॥
यह समुद्र का पृथिवी तल पर छाया जो जलमय विस्तार।
उसमें से मेघों के मण्डल हों अनन्त उत्पन्न अपार॥
लरजन गरजन घन-मण्डल की बिजली वर्षा का सञ्चार।
जिसमें देखो परमश्वेर की लीला अद्भुत अपरम्पार॥

" जगत सचाई सार " से

(२)

कबहुँ न तहाँ पधारि ग्राम्य जन पग अब धरि हैं।
मधुर भुलौनी माँहि नित्य चिन्ताहि बिसरि हैं॥

ना किसान अब समाचार तहँ आय सुनैहैं।
ना नाऊ की बातें सब को मन बहलैहैं॥
लकड़हार को बिरहा कबहुँ न तहँ सुनि परिहैं।
तान श्रवण आनन्द-उदधि कबहुँ न उभरिहैं॥
माँथौ पोंछि लुहार दाम को तहँ रुकिहै ना।
भारी बलहि ढिलाय सुनन बातन झुकिहै ना॥
घर को स्वामी आप दीखिहै तहँ अब नाहीं।
झाग उठे प्याले कों फिरवावत सब पाहीं॥
धनी करहु उपहास तुच्छ मानहु किन मानी।
दीनन की यह लघु सम्पत्ति साधारन जानी॥
मोहि अधिक प्रिय लगै अधिक ही मो हिय भाई।
सबरी बनावटिन सों एक सहज सुघराई॥

—"ऊजड़ ग्राम" से

(३)

साधारण अति रहन-सहन मृदु बोल हृदय हरने वाला।
मधुर मधुर मुसक्यान मनोहर मनुज वंश का उजियाला॥
सभ्य, सुजन, सत्कर्म-परायण, सौम्य, सुशील, सुजान।
शुद्ध चरित्र, उदार, प्रकृति-शुभ, विद्या बुद्धि निधान॥
प्राण पियारे की गुण-गाथा, साधु कहाँ तक मैं गाऊँ।
गाते गाते चुके नहिं वह चाहे मैं ही चुक जाऊँ॥

विश्व-निकाई विधि ने उसमें की एकत्र बटोर।
बलिहारौं त्रिभुवन-धन उस पर वारों काम करोर॥

—"एकान्तवासी योगी" से

(४)

मुक्त शब्द से दीपित मेरी प्रतिभा पङ्ख लगाती है।
पश्चिमीय-वारिधि-वसन्त-सेवित ब्रिटेन को जाती है॥
शीतल मृदुल समीर चतुर्दिक सुखित चित्त को करती है।
कोमल कल संगीत सरस ध्वनि तरु तरु प्रति अनुसरती है॥
सकल सृष्टि की सुघर सौम्य छवि एकत्रित तहँ छाई है।
अति की बसें मनुष्यों ही के मन में अति अधिकाई है॥
मनन-वृत्ति प्रति हृदय-मध्य दृढ़ अधिकृत पाई जाती है।
अति गरिष्ट साहसिक लक्ष्य उत्साह अमित उपजाती है॥
गति में गौरव गर्व, दृष्टि में दर्प धृष्टता-युत धारी।
देखूँ हूँ मैं इन्हें मनुज-कुल-नायकता का अधिकारी॥
सदा बृहत व्यवसाय-निरत, सुविचारवन्त दीखैं सारे।
सुगम स्वल्प आचार शील अरु शुद्ध प्रकृति के गुण धारे॥
स्वाभाविक दृढ़ चित्त अटल उद्धत असीम साहसकारी।
निज स्वत्वों के व्रती निपट निर्भय स्वतन्त्र सत्ताधारी॥
कृषिकर भी प्रत्येक स्वत्व को जाँच गर्वयुत करता है।
त्यों मनुष्य होने का मान सब के समान मन धरता है॥
जिस स्वतन्त्रता की ब्रिटेन जन इतना लाड़ लड़ाते हैं।

सामाजिक सम्बन्ध उसी से खण्डित अपने पाते हैं ॥
आवेगा एक समय जब कि सौभाग्य शून्य होकर यह देश ।
वीरों का पितृ-गेह विज्ञ विद्वानों का आवास अशेष ॥
धन तृष्णा का घृणित एक सामान्य कुण्ड बन जावेगा ।
नृपति, शूर, विद्वान आदि कोई भी मान नहिं पावैगा ॥
स्वतन्त्रता का हो सकता है यह सब से बढ़ कर उद्देश ।
व्यक्ति व्यक्ति पर रहे भार शासन का शक्ति अनुसार अशेष ॥

—"श्रान्त पथिक" से

(५)

सुसंदेश

कहीं पै स्वर्गीय कोई बाला सुमञ्जु बीणा बजा रही है ।
सुरों के संगीत की सी कैसी सुरीली गुञ्जार आ रही है ॥
हरेक स्वर में नवीनता है, हरेक पद में प्रवीनता है ।
निराली लय है औ लीनता है अलाप अद्भुत मिला रही है ॥
अलक्ष्य पदों से गत सुनाती तरल तरानों से मन लुभाती ।
अनूठे अटपट स्वरों में स्वर्गिक सुधा की धारा बहा रही है ॥
कोई पुरन्दर की किङ्किरी है कि या किसी सुर की सुन्दरी है ।
वियोग तप्ता सी भोग-मुक्ता हृदय के उद्गार गा रही है ॥
कभी नई तान प्रेममय है, कभी प्रकोपन कभी विनय है ।
दया है दाक्षिण्य का उदय है अनेकों बानक बना रही है ॥

भरे गगन में हैं जितने तारे हुए हैं मदमस्त गत पै सारे।
समस्त ब्रह्माण्ड भर को मानों दो उंगलियों पर नचा रही है॥
सुनो तो सुनने की शक्ति वालो, सको तो जाकर के कुछ पता लो।
है कौन जोगन ये जो गगन में इतनी चुलबुल मचा रही है॥

(६)

घन विनय

हे वारिद! नव जलधर! हे धाराधर नाम!
हे पयोद! पय सुन्दर! हे अतिशय अभिराम!!
हे प्रानद आनंद-घन, हे जगजीवन सार!
हे सजीव जीवन-धन, हे त्रिभुवन आधार!
हे घनस्याम परम प्रिय, हे आनन्द घनस्याम!
मुदित करन हार जन-हिय, भीय छुड़ावन हार!
हे बक तीय उड़ावन, हीय-बढ़ावन हार!!
हे रन बंक धनुसधर, सर तरकस जल धार!
ग्रीसम-बिसम कलुस हर, रविकर प्रखर प्रहार!!
हे गिरि तुङ्ग शिखर-चर, हे निर्भय नभ यान!
हे नित नूतन तन धर, हे पवमान विमान!!
तुम भारत के धन बल, गुन गौरव आधार!
तुम ही तन तुम ही मन, तुम प्रानन पतवार॥

परम पुरातन तुम्हरो, भारत संग सत्प्रेम।
जिहि जानत जग सगरौ, मानत निहिचल नेम॥

सो तुम को नहिं चहियत, छांडन हित सम्बन्ध।
अटल सदैवहि कहियत, पूरन प्रकृति प्रबन्ध॥
सोचहु सुमिरि सुजस निज, हे उज्जल जस भौन।
इन दुखियनहिं तुम्हि तज, घन! अवलम्बन कौन?
पठवहु परम सुहावनि, पावनि पूरब पौन।
सुभ सन्देस सुनावनि, जलभर लावनि जौन॥
स्याम घटा लै धावहु, पावहु नभहिं दबाय।
दिब्य छटा फैलावहु, लावहु दलहि सजाय॥
घोरहु घुमड़ि घमंकहु, घेरहु दसहु दिसान।
दामिनि द्रुतहि दमंकहु, धारहु धनुस निसान॥
करखा कुपति गवावहु जिहि सुनि हिय हरसाय।
बरखा विपुल मचावहु, जिहि लखि जिय भरि जाय॥

गरजन गहन सुनावहु, रन व्रत वीर समान।
लरजन ललित दिखावहु, बाँधहु धुर धुरवान॥
मुग्ध मयूर नचावहु, निज घन घोर सुनाय।
दादुर भेक बुलावहु, नव अभिषेक कराय॥

कहुँ कहुँ कड़क सुनावहु, विज्जु पतन ठनकार।
कहुँ मृदु श्रवन करावहु, झिल्ली गन झनकार॥

बन बन कीट पतङ्गन, घर घर तिय जन तान!
पुरवहु रंग बिरंगन, हे बहु ढङ्ग-निधान!!
बीर-बहूटिन के हित, हरि हरि घास बिछाउ।
करहु नवेलिन के चित, रति-रस केलि उछाउ॥
पोखर नदी तड़ागन, बागन बगियन बीज।
गैल गली घर आँगन, भरहु मचावहु कीच॥
कजरी मधुर मलारन, की धुनि पुनि सुनवाउ।
मंगल मोर मनावन, की चर्चा चलवाउ॥
झूलन फूल हिंडोलन, काम किलोल कराउ।
पुनि पुनि पिय पिय बोलन, पपियन प्यास बुझाउ॥
करि कृतकृत्य किसानन, सम्बतसर सरसाउ।
सींचि सस्य तृन धानन, तब निज धाम सिधाउ॥
समै समै पुनि आवहु, पुनि जावहु इहि रीति।
सहज सुभाग बढ़ावहु, गहि मग प्राकृत नीति॥
प्रथित प्रेम रस पागहु, पूरन प्रनय प्रतीत।
सदा सरस अनुरागहु, हे घन! विनय विनीत॥

(७)

भारत-सुत

एहो! नव युव वर, प्रिय छात्र वृन्द!
भरत - हृदि - नन्दन, आनन्द - कन्द!!

जीवनतरु-सुन्दर-सुख-फल अमन्द !
भारत - उर-आशा - आकाश - चन्द !!
आरज गृह - गौरव - आधार - थम्ब !
भारत - भुवि - सर्वस प्रानावलम्ब !!
तुमही तिहि तन, मन, धन, रजत जोति !
हीरा, मनि, मरकत, मानिक्य, मोति !!
तुमही तिहि आतम अन्तर-शरीर !
प्रानाधिक प्रियतम सुत, धीर, वीर !!
तुम्हरे नव विकसित सुठि सबल अंग।
उन्नत मति चंचल चित चपल ढंग॥
शैशव गुन-संभव, नव नव तरंग।
नव वय, नव विद्या, नव-युव-उमंग॥
बाढ़हु भुवि स्वर्गिक सेवा के हेतु।
फहरै जग भारत-कीरति कौ केतु॥

———

सान्ध्य-अटन

विजन वन प्रान्त था, प्रकृति मुख शान्त था,
अटन का समय था, रजनि का उदय था,
प्रसव के काल की लालिमा में ल्हिसा,
बाल-शशि व्योम की ओर था आ रहा॥

सद्य उत्फुल्ल अरविन्द-निभ नील सुवि—
शाल नभ-वक्ष पर जा रहा था चढ़ा।
दिव्य दिङ्नारि की गोद का लाल सा
था प्रखर भूख की यातना से प्रहित।
पारणा रक्त-रस लिप्सु, अन्वेषणा—
युक्त या क्रीड़नासक्त, मृगराज शिशु,
या अतिव क्रोध संतप्त जर्मन्य नृप
सा किया अभ्र बैलून उर में छिपा।
इन्द्र या इन्द्र का छत्र या ताज था।
स्वर्ग्य गजराज के भाल का साज था॥
कर्ण उन्नाल या स्वर्ण का थाल सा।
कभी यह भाव था, कभी वह भाव था।
देखने का चढ़ा चित्त में चाव था।
विजन वन शान्त था चित्त अभ्रान्त था।
रजनि-आनन अधिक हो रहा कान्त था।
स्थान-उत्थान के साथ ही चन्द्र-मुख।
भी समुज्ज्वल लगै था अधिकतर भला।
उस बिमल बिम्ब से अनति ही दूर, उस।
समय व्योम में इक बिन्दु सा लख पड़ा।
स्याह था रंग, कुछ गोल गति डोलता।
किया अति रंग में भंग उसने खड़ा॥

उतरते उतरते आ रहा था इधर,
जिधर को शून्य सुनसान थल था पड़ा।
आम के पेड़ से थी जहाँ दीखती,
प्रेम-आलिंगिता मालती की लता।
बस उसी वृक्ष के सीस की ओर कुछ
खड़खड़ाकार एक शब्द-सा सुन पड़ा।
साथ ही पंख की फड़फड़ाहट, तथा
शत्रु निःशंक की कड़कड़ाहट, तथा
पक्षियों में पड़ी हड़बड़ाहट, तथा
कंठ और चोंच की चड़चड़ाहट, तथा
आर्ति-युत कातर-स्वर तथा, शीघ्रता-
युत उड़ाहट भरा दृश्य इस दिव्य छवि-
लुब्ध दृग युग्म को घृणित अति दिख पड़ा।
चित्त अति चकित अत्यन्त दुःखित हुआ।

पं० सत्यनारायण 'कविरत्न'

[जन्म संवत् १६४१ मृत्यु संवत् १६७५]

पं० सत्यनारायण कविरत्न व्रजभाषा माधुर्य के प्रतिनिधि कवि थे। इन्होंने व्रजभाषा में सभी तरह की रचनाएँ कीं। नन्ददास की तरह भ्रमर-गीत भी लिखे परन्तु इनकी सब से बड़ी रचना उत्तररामचरित और मालती-माधव के हिन्दी अनुवाद हैं जो अभी तक कई विश्वविद्यालयों में पढ़ाए जाते हैं। इनका गृहजीवन बड़ा दुःख पूर्ण था, अतएव इनकी कविता का पूर्ण विकास नहीं हो पाया और असमय में ही इनका देहावसान हो गया। इनकी रचनाओं में करुण रस का अच्छा चित्रण है। भाषा मीठी और सरस है। ऐसा मालूम होता है कि कवि अनायास ही यह सब कह रहा हो। इनकी कविता अत्यन्त श्रवण-सुखद और मर्म-स्पर्शिनी है। रचनाओं में अनुप्रास, यमक आदि रखने में इन्होंने प्राचीन कवियों का अनुकरण किया है। इन्होंने खड़ी बोली का प्रयोग केवल गद्य में ही किया है। कविता सम्बन्धी विचारों में कोई नवीनता नहीं, ये व्रजवासी होने के कारण परिमार्जित कृष्णभक्त थे।

इनकी रचनाओं में देशभक्त होरेशस, उत्तररामचरित नाटक, मालती-माधव नाटक मुख्य हैं। पिछले दिनों श्री बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा इनका एक जीवन चरित भी निकल चुका है।

गिरिजा सिंधुजा-सम्वाद

(१)

सिन्धु-सुता इक दिना सिधाई, श्री गिरि-सुता दुवारे।
विघ्न-विदारगा मातु कहाँ ? यह, भाख्यो लागि किवारे॥
कष्ट निवारन मङ्गल करनी, जाके सब गुन गावैं।
मेरे द्वार पास तिहि कारगा, विघन रहिन नहिं पावैं॥
कहाँ भिखारी गयो यहां ते, करै जो तुव प्रतिपालो।
होगी वहाँ जाय किन देखो, बलि पै पठयो कसालो॥
गरल-अहारी कहाँ ? बताओ, लेहुँ आप सों लेखो।
बार बार का पूँछति मों को, जाय पूतना देखो॥
बहुरि पियारी मोहि बताओ, भुजग-नाह परबीनो।
देखहु जाय शेष-शय्या पर, जहाँ शयन तिन कीनो॥
कहाँ पशु पति मोंहि दिखाओ, गोकुल डगर पधारो।
शैलपती कहाँ ? कर मैं धारैं, गोवर धनहिं निहारो॥
सत्य नरायन हँसि के कमला, भीतर चरन पधारैं।
अस आमोद प्रमोद दोऊ को, हमरे शोक निवारैं॥

(२)

भयो क्यों अनचाहत को संग।

सब जग के तुम दीपक मोहन, प्रेमी हमहु पतंग॥
लखि तव दीपति देह-शिखा में निरतबिरह लौ लागी।
खिंचति आप सो आप उतँहि यह, ऐसी प्रकृति अभागी॥
यदपि सनेह भरी तव बतियाँ, तउ अचरज की बात।
याग वियोग दोउन में इक सम, नित्य जरावत गात॥
जब जब लखत, तबहिं तब चरनन, बारत तन मन प्रान।
जासों अधिक कहा, तुम निरदय, चाहत प्रेम प्रमान॥
सतत घुरावत ऐसो निज तन, अन्तर तनिक न भावत।
निराकार है जात यहाँ लौं, तऊ जन को तरसावत॥
यह स्वभाव को रोग तिहारो, हिय आकुल पुलकावै।
सत्य बतावहु का इन बातनि, हाथ तिहारे आवै॥

(३)

माधव अब न हमें तरसैये।

जैसी करत सदा सों आए, वुही दया दरसैये॥
मान लेउ, हम कूर कुढंगी, कपटी कुटिल गँवार।
कैसे असरन-सरन कहा तुम, जन के तारन हार॥
तुम्हरे अछत दीन टेरत यह, देस सदा दरसावै।
पै तुम यहि जनम धरे की, तनिकहु लाज न आवै॥

आरत तुम्हहिं पुकारत हम सब, सुनत न त्रिभुवन राई।
अँगुरी डार कान में बैठे, धरि ऐसी निठुराई॥
अजहुँ प्रार्थना यही आप सो, आपनो विरुद सँवारौ।
सत्य दीन दुखियन की विपता, आतुर आप निवारौ॥

(४)

वसन्त

सौख्य सुधा सरसाइए, सुभग सुलभ रसवन्त।
बर बिनोद बसाइए, बसुधा बिपिन बसन्त॥ १॥

दस दिसि दुति दरसाइए, सजि सुरभित सुठि साज।
जग प्रिय हिय हरसाइए, रहि रसाल ऋतुराज॥ २॥

अमित अनारन अम्बन, अमल असोक अपार।
बकुल कदम्ब कदम्बन, पुनि पलास परिवार॥ ३॥

जहँ कोकिल कल बोलत, ठौर ठौर स्वच्छन्द।
गुंजत षट्पद डोलत, पद पद पी मकरन्द॥ ४॥

जयति मधुर मन मोहन, जयति प्रकृति शृङ्गार।
सुन्दर सब विधि सोहन, कीजिए विपुल विहार॥ ५॥

नित तव निरमल निरखौ, रमि सुरम्यता कुंज।
पुनि पुनि प्रमुदित परखौ, पूरन प्रियता-पुंज॥ ६॥

मृदु मंजु रसाल मनोहर मंजरी मोरपखा सिर पै लहरैं।
अलबेलि नवेलिन बेलिनु मैं नवजीवन जोति छटा छहरैं॥
पिक भृङ्ग सुगुंज सोई मुरली सरसौं सुभ पीत परा फहरैं।
रसवंत विनोद अनन्त भरे ब्रजराज वसंत हिए विहरैं॥ ७॥

(५)

अब न सतावौ !

करुणाघन इन नयनन सों द्वै, बुँदियाँ तो टपकावौ॥
सारे जग सों अधिक कियो का, ऐसो हमने पाप।
नित नव दई निर्दई बनि जो, देत हमें सन्ताप॥
साँची तुमहिं सुनावत जो हम, चौंकत सकल समाज।
अपनी जाँघ उघारे उघरति, बस अपनी हो लाज॥
तुम आछे हम बुरे सही बस, हमरो ही अपराध।
करनो हो सो अजहूँ कीजै, लीजै पुण्य अगाध॥
होरी सी जातीय-प्रेम की, फूँकि न धूरि उड़ावौ।
जुग कर जोरि यही सत माँगत, अलग न आर लगावौ॥

(६)

बस अब नहिं जात सही।

विपुल वेदना विविध भाँति जो, तन मन व्याप रही॥
कबलौं सहें अवधि सहवे की, कुछ तो निश्चित कीजै।
दीन-बन्धु यह दीन दशा लखि, क्यों नहिं हृदय पसीजै॥

बारन दुख टारन तारन में, प्रभु तुम बार न लाए।
फिर क्यों करुणा करत स्वजन पै, करुणानिधि अलसाए॥
यदि जो कर्म-यातना भोगत, तुम्हरे हू अनुगामी।
तौ करि कृपा बतायो चहियतु, तुम काहे के स्वामी॥
अथवा विरद बानि अपनी कुछ, कै तुमने तजि दीनी।
या कारण हम सब अनाथ की, नाथ न जो सुधि लीनी॥
वेद बदत गावत पुरान सब, तुम त्रय ताप नसावत।
शरणागत की पीर तनकहू, तुम्हें तीर सम लागत॥
हम से शरणापन्न दुखी को, जाने क्यों बिसरायो।
शरणागत-वत्सल सत यों हीं, कोरो नाम धरायो॥

भ्रमर-दूत

वही कालिन्दी तीर कदम्बन के बन छाए।
बरन बरन के लता भवन मन हरन सुहाए।
वही कुन्द की कुञ्ज पे, परम प्रमोद समाज।
पे मुकुन्द की बिनु बिस भये, सारे सुखमा साज।
चित्त बाहीं धरयो॥ १॥
लागत पलास उदास शोक में अशोक भारी।
बोरे बने रसाल माधवी लता दुखारी॥
तजि तजि निज प्रफुलितपनौ, बिरह व्यथित अकुलात॥
जड़हू ह्वै चेतन मनो, दीन मलीन लखात॥
एक माधौ बिना॥ २॥

नित नूतन तृन डारि सघन बंसीबट छैयाँ ।
फेरि फेरि कर कमल चरहि जो हरि गैयाँ ॥
ते तित सुधि अति ही करत, सब तन रही झुराय ।
नयन स्रवत जल नहिं चरत, व्याकुल उदर अघाय ॥
उठाये म्हों फिरैं ॥ ३ ॥

बचन हीन ये दीन गऊ दुख सों दिन बितवत ।
दरस लालसा लगी चकित चित इत उत चितवत ॥
एक संग तिनको तजत, अलि कहियो ए लाल !
क्यों न हीय निज तुम लजत, जग कहाय गोपाल ॥
मोह ऐसो तज्यो ॥ ४ ॥

नील कमल दल श्याम जासु तन सुन्दर सोहै ।
नीलाम्बर वसनाभिराम विद्युत मन मोहै ॥
भ्रम में परि घनश्याम के, लखि घनश्याम अगार ।
नाचि नाचि ब्रजधाम के, कूकत मोर अपार ॥
भरे आनन्द में ॥ ५ ॥

यहाँ को नव नवनीत मिल्यो मिसरी अति उत्तम ।
भला सके मिलि कहाँ सहर में सद याके सम ॥
रहैं यहाँ लालो अजहुँ, काढ़त याहि जब भोर ।
भूखो रहत न होइ कहुँ, मेरो माखन चोर ॥ ६ ॥

वा बिनु गो ग्वालन को हित की बात सुझावै।
अस स्वतंत्रता समता सहभ्रातता सिखावै॥
यद्पि सकल विधि ये सहत, दारुण अत्याचार।
पै न कछू मुख सों कहत, कोरे बने गँवार॥
कोउ अगुआ नहीं॥ ७॥

भये संकुचित हृदय भीरु अब ऐसे भय में।
काऊ को विश्वास न निज जातीय उदय में।
लखियत कोउ रीति न भली, नहिं पूरब अनुराग।
अपनी अपनी ढापुली, अपनो अपनो राग॥
अलापैं जोर सों॥ ८॥

नहिं देशीय भेष भावुन की आशा कोऊ।
लखियत जो व्रजभाषा जाति हिरानी सोऊ॥
आस्तिक बुधि बन्धनन से, बिगरी सब मरजाद।
सब काऊ के मन बसें, न्यारे न्यारे स्वाद॥
अनोखे ढङ्ग के॥ ९॥

———————

श्री नाथूराम शङ्कर शर्मा

[जन्म संवत् १६१६]

कविवर श्री नाथूराम शङ्कर शर्म्मा ने खड़ी बोली व्रजभाषा दोनों में ही कविता की है। आर्य समाजी होने के कारण इनकी कविताएँ अधिकतर समाज सुधार और ईश्वर-सम्बन्धी ही हुई हैं। शर्मा जी का दोनों भाषाओं पर पूर्णाधिकार था। आपकी भाषा बड़ी ओज पूर्ण और भाव चुटीले होते थे। ये कुशाग्रबुद्धि कवि थे। तत्त्ण कविता करके पाठकों एवं श्रोताओं को मुग्ध कर देते थे। इनकी समस्या पूर्तियाँ भी बहुत सुन्दर होती थीं। हिन्दी-कविता-त्तेत्र में इनकी कविताओं का खूब आदर होता था। आपने कुछ कविताएँ शृंगार-रस पर भी लिखी थीं परन्तु वे इनकी अन्तरात्मा से नहीं निकलीं वे मनोविनोद के लिये होती थीं। ये कवि की अपेत्ता उपदेशक अधिक थे। जब उपदेश दान के अतिरिक्त कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं तब इनकी रचनाओं में सरसता की मात्रा अधिक हो जाती है। इनकी भाषा में एक प्रकार का अक्खड़पन है। घूमे (घूमता है) लगे (लगता है) आदि ग्राम्य शब्दों का भी इन्होंने अधिक प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त प्रांतीय और अप्रचलित शब्दों के प्रयोग भी इनकी कविता में पाये जाते हैं।

शंकर समोज, अनुराग रत्न, गर्भरंडा रहस्य, वायस विजय आदि कई पुस्तकें इन्होंने लिखी हैं।

प्रार्थना

(१)

द्विज वेद पढ़ें सुविचार बढ़ैं बल पाय चढ़ैं सब ऊपर को ।
अविरुद्ध रहें ऋजु पंथ गहैं परिवार कहें वसुधा भर को ॥
ध्रुव धर्म धरैं पर-दुःख हरैं तन त्याग तरैं भवसागर को ।
दिन फेर पिता वर दे सविता, कर दे कविता कवि शंकर को ॥

(२)

विदुषी उपजैं क्षमता न तजैं व्रत धार भजैं सुकृती वर को ।
सधवा सुधरैं विधवा उबरैं सकलंक करैं न किसी घर को ॥
दुहिता न बिकैं कुटनी न टिकैं कुल बोर छिकैं तरसैं दर को ।
दिन फेर पिता वर दे सविता, कर दे कविता कवि शंकर को ॥

(३)

नृप नीति जगै न अनीति ठगै भ्रम भूत लगै न प्रजाधर को।
झगड़े न मचैं खल खर्व लचैं मद से न रचैं भट संगर को॥
सुरभी न कटें न अनाज घटें सुख भोग डटें डपटें डर को।
दिन फेर पिता वर दे सविता, करदे कविता कवि शंकर को॥

(४)

महिमा उमड़ै लघुता न लड़ै जड़ता जकड़ै न चराचर को।
शठता सटकै मुदिता मटकै प्रतिभा भटकै न समादर को॥
विकसै विमला शुभ कर्म कला, पकड़ै कमला श्रम के कर को।
दिन फेर पिता वर दे सविता, कर दे कविता कवि शंकर को॥

(५)

मतजाल जलैं छलिया न छलैं कुल फूल फलैं तज मत्सर को।
अघ दम्भ दबैं न प्रपञ्च फबैं गुनमान नवैं न निरक्षर को॥
सुमरें जप से निरखें तप से सुरपादप-से तुझ अक्षर को।
दिन फेर पिता वर दे सविता, कर दे कविता कवि शंकर को॥

मृत्यु

(२)

साँची मान सहेली परसों पीतम लैवे आवैगो॥ टेक॥
मात-पिता भाई भौजाई, सब सों राखि सनेह सगाई।
दो दिन हिल मिल काट वहां से फिर को तोहिं पठावैगो॥
॥साँची०॥

अब को छेता नाहिं टरैगो, जानो पिय के संग परैगो।
हम सब को तेरे बिछुरन कौ दारुण शोक सतावैगो॥
॥ साँची० ॥

चलने की तैयारी करले, तोशा बाँध गैल को धरले।
हालाहाल बिदा की बिरियाँ को पकवान बनावैगो॥
॥ साँची० ॥

पुर बाहर लों पीहरवारे, रोवत साथ चलेंगे सारे।
शंकर आगे आगे तेरो डोला मचकत जावैगो॥

उद्बोधन

(३)

नीकी करनी संसार में, नामी नर कर जाते हैं॥ टेक॥
जो ध्रुव धर्मवीर होते हैं, पर दुख देख देख रोते हैं।
सो विशाल संसृति सागर को पल में तर जाते हैं॥ नीकी०॥

वृथा काल को खोनेवाले, बीज पाप के बोने वाले।
कायर कूर कुपूत कुचाली यों ही मर जाते हैं॥ नीकी०॥

धर्म कर्म का मर्म न जानैं, केवल मन मानी तक तानै।
ऐसे बकवादी समाज में, संशय भर जाते हैं॥ नीकी०॥

मिट गए नाम नीच कपटिन के, शंकर सुयश शेष हैं तिनके—
जिनके जीवन के अनुगामी, जीव सुधर जाते हैं॥ नीकी०॥

वह ईश्वर

(४)

जिस अविनाशी से डरते हैं।
भूत देव जड़ चेतन सारे ।। टेक ।।

जिसके डर से अम्बर बोले, उग्र मन्द गति मारुत डोले।
पावक जले प्रवाहित पानी, युगल वेग वसुधा ने धारे ।।
जिस ·····सारे ।।

जिस का दण्ड दसों दिस धावै, काल डरे ऋतु चक्र चलावे।
बरसे मेघ दामिनी दमके, भानु तपै चमकें शशि तारे ।।
जिस·······सारे ।।

मन को जिस का कोप डरावै, घेर प्रकृति को नाच नचावे।
जीव कर्म फल भोग रहे हैं, जीवन जन्म मरण के मारे ।।
जिस······सारे ।।

जो भय मान धर्म धरते हैं, शंकर कर्म योग करते हैं।
वे विवेक वारिधि बड़ भागी, बनते हैं उस प्रभु के प्यारे ।।

अरसिक

(५)

भरिबो है समुद्र को शम्बुक में,
छिति को छिगुनी पै धारिबो है।

बंधिबो है मृणाल से मत्त करी,
जुही फूल सों सैल बिदारिबो है ॥
गनिबो है सितारन को कवि "शंकर"
रेणु से तेल निकारिबो है।
कविता समुझाइयो मूढ़न को,
सविता गहि भूमि पै डारिबो है ॥

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

[जन्म संवत् १९२२]

उपाध्याय जी वर्तमान हिन्दी कवियों में दीप-शिखा हैं। हिन्दी साहित्य में आप बहुत कुछ लिखने वालों में से एक हैं। इन्होंने व्रज-भाषा और खड़ी बोली में बहुत ही अधिकार परक लिखा है। इनकी सब से बड़ी विशेषता यह है कि ये सरल से सरल और कठिन से कठिन दोनों ही प्रकार की रचनाएँ कर सकते हैं। 'प्रिय प्रवास' आपकी महान संस्कृत साधना का परिचायक है, इसी तरह 'चोखे चौपदे', 'अधखिला फूल' आदि रचनाएँ रोजमर्रा की भाषा की प्रकाण्ड अधिकार के उदाहरण हैं। आपने ठेठ हिन्दी (गद्य) में एक पुस्तक लिखी है, जिसका नाम है 'ठेठ हिन्दी का ठाठ'। इस पुस्तक में एक भी संस्कृत अथवा उर्दू का शब्द नहीं है। यह पुस्तक सिविलसर्विस परीक्षा में पढ़ाई जाती है। अभी 'रस कलश' नामक एक श्रृंगारी काव्य भी इस बुढ़ौती में लिखा है। आप अंग्रेजी, बंगला, संस्कृत के बड़े विद्वान हैं। उपाध्याय जी ने हिन्दी को बहुत कुछ दिया है और इतना दिया है कि हिन्दी संसार उनका चिर ऋणी रहेगा।

उपाध्याय जी के भाषा सम्बन्धी प्रयोग उस समय तक के सभी कवियों से श्रेष्ठ और शुद्ध हैं। इन्होंने व्याकरण सम्मत प्रयोग किए हैं। आपका शब्द भंडार अगाध है। हिन्दी में उपाध्याय जी के बराबर शायद ही किसी ने इतने शब्दों का प्रयोग किया हो। आप दो बार हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सभापति रह चुके हैं। आजकल आप निष्काम भाव से हिन्दू-यूनिवर्सिटी बनारस में हिन्दी का अध्यापन कार्य कर रहे हैं।

———

प्रियप्रवास

दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर थी अब राजती।
कमलिनी-कुल-बल्लभ की प्रभा॥ १॥

बिपिन बीच बिहंगम-वृन्द का।
कल निनाद विवर्धित था हुआ।
ध्वनिमयी-बिबिधा-बिहगावली।
उड़ रही नभमण्डल मध्य थी॥ २॥

अधिक और हुई नभ-लालिमा।
दश-दिशा अनुरंजित हो गई।
सकल पादप-पुंज हरीतिमा।
अरुणिमा बिनिमज्जित सी हुई॥ ३॥

झलकने पुलिनों पर भी लगी।
गगन के तल की यह लालिमा।
सरित औ सर के जल में पड़ी।
अरुणिमा अति ही रमणीय थी॥ ४॥

अचल के शिखरों पर जा चढ़ी।
किरण पादप-शीश बिदारिणी।
तरणि-विम्ब तिरोहित हो चला।
गगन-मण्डल मध्य शनैः शनैः ॥ ५ ॥

ध्वनि-मयी करके गिरि-कन्दरा।
कलित-कानन केलि निकुंज को।
मुरलि एक बजी इस काल ही।
तरणिजा - तट - राजित - कुंज में ॥ ६ ॥

क्वणित मंजु विषाण हुए कई।
रणित भृंग हुए बहु साथ ही।
फिर समाहित प्रान्तर् भाग में।
सुन पड़ा स्वर धावित धेनु का ॥ ७ ॥

कियत ही क्षण में बन-बीथिका।
बिविध-धेनु बिभूषित हो गई।
धवल - धूसर - वत्स समूह भी।
समुद था जिनके सँग सोहता ॥ ८ ॥

जब हुई समवेत शनैः शनैः।
सहित गो-गण मण्डलि ग्वाल की।
तब चली ब्रज-भूषण को लिए।
वह अलंकृत गोकुल ग्राम को ॥ ९ ॥

गगन के तल गोरज छा गई।
दश-दिशा बहु शब्दमयी हुई।
बिशद-गोकुल के प्रति-गेह में।
बह चला बर—श्रोत विनोद का ॥ १० ॥

———

तारे डूबे तम टल गया छा गई व्योम-लाली।
पंछी बोले तमचुर जगे ज्योति फैली दिशा में।
शाखा डोली सकल तरु की कंज फूले सरों में।
धीरे धीरे दिनकर कढ़े तामसी रात बीती ॥ १ ॥
लोनी लोनी सकल लतिका बायु मैं मन्द डोलीं।
प्यारी प्यारी ललित-लहरें भानुजा में बिराजीं।
सोने की सी कलित किरणें मेदिनी ओर छूटीं।
कूलों कुंजों कुसुमित बनों क्यारियों ज्योति फैली ॥ २ ॥
प्रातः शोभा ब्रज अवनि में आज प्यारी नहीं थी।
मीठा मीठा बिहग-रव भी कान को था न भाता।
फूले फूले कमल दल थे लोचनों में लगाते।
लाली सारे गगन-तल की काल ब्याली समा थी ॥ ३ ॥
चिन्ता की सी कुटिल उठतीं अंक में जो तरंगें।
वे थीं मानों प्रकट करतीं भानुजा की व्यथायें।
धीरे धीरे मृदु पवन में चाव से थीं न डोली।
शाखाएँ भी सहित लतिका शोक से कंपिता थीं ॥ ४ ॥

फूलों-पत्तों सकल पर है बारि बूँदें लखातीं।
रोते हैं या विपट सब यों आँसुओं को दिखाके।
रोई थी जो रजनि दुख से नंद की कामिनी के।
ये बूँदें हैं निपतित हुई या उसी के दृगों से॥ ५॥

कोई कोई मृदुल-लतिका बेलियां औ लताएँ।
भीगीं सी थीं बिपुल जल में बारि बूँदों भरी थीं।
मानों फूटी सकल तन में शोक की अश्रु धारा।
फूलों पत्तों बिपुल कलियों डालियाँ हो बही थीं॥ ६॥

धीरे धीरे पवन ढिग जा फूलवाले द्रुमों के।
शाखाओं से कुसुम-चय को थी धरा पै गिराती।
मानों यों थी हरण करती फुल्लता पादपों की।
जो थी प्यारी न ब्रज-जन को आज न्यारी व्यथा से॥ ७॥

फूलों का यों अवनि-तल में देख के पात होना।
ऐसी भी थी हृदय तल में कल्पना आज होती।
फूले फूले कुसुम अपने अंक में से गिरा के।
बारी बारी सकल-तरु भी खिन्नता हैं दिखाते॥ ८॥

नीची-ऊँची सरित सर की बीचियां और बूँदें।
आभा न्यारी बहन करतीं भानु की अंक में थीं।
मानों यों वे हृदय तल के ताप को थीं दिखातीं।
या दावा थी उरसि उनके दीप्तिमाना दुखों की॥ ९॥

सारा नीला-सलिल सरिका शोक-छाया पगा था।
कंजों में से मधुप कड़के घूमते थे मुएसे।
मानों खोटी बिरह-घटिका सामने देख के ही।
कोई भी थी अवनत मुखी कान्ति दीना मलीना॥ १०॥

———

ऐसा आया इक दिवस जो मर्मभेदी महा था।
धाता ने हो दुखित भव के चित्रितों को विलोका।
धीरे धीरे तरणि निकला काँपता दग्ध होता।
काला काला ब्रज अवनि में शोक का मेघ छाया॥ १॥
देखा जाता पथ जिन दिनों नित्य ही श्याम का था।
ऐसा खोटा इक दिन उन्हीं बासरों मध्य आया।
आँखें नीचे जिस दिन किए डूबते शोक बीची।
देखा आते सकल ब्रज ने नन्द गोपादिकों को॥ २॥
खोके होवे विकल जितना आत्म सर्वस्व कोई।
होती हैं खो स्वमणि जितनी सर्प को वेदनायें।
दोनों प्यारे कुँवर तजिके ग्राम आज आते।
पीड़ा होती अधिक उससे गोकुलाधीश को थी॥ ३॥
लज्जा से वे प्रथित-पथ में पांव भी थे न देते।
जी होता था व्यथित हरि का पूँछते ही सँदेसा।
बृक्षों में हो बिपथ चल के आ रहे ग्राम में थे।
ज्यों ज्यों आते निकट गृह के भूमि जाते गड़े थे॥ ४॥

पाँवों को वे यदपि बल के साथ ही थे उठाते।
तो भी वे थे न उठ सकते हो गए थे मनों के।
मानों यों वे गृह गमन से नन्द को रोकते थे।
संक्षुब्धा हो प्रबल बहती शोक-धारा जहां थी॥ ५॥

पावों से हो पृथक तजके संग भी साथियों का।
थोड़े लोगों सहित गृह की ओर वे आ रहे थे।
विक्षिप्तों सा बदन उनका आज जो देख लेता।
हो जाता था व्यथित अति ही कष्ट पाता महा था॥ ६॥

दोनों आँखें परम कृश सी फूटती थी निराशा।
छाई जाती बदन पर भी शोक की कालिमा थी।
सीधे जो थे न पग पड़ते भूमि में वे बताते।
चिन्ता द्वारा चलित नन्द के चित्त की वेदनायें॥ ७॥

भादों वाली भयद रजनी सूचि-मेघा अमा थी।
ज्यों होती है असित अति ही छा गए मेघ-माला।
त्यों ही सारे ब्रज-सदन का हो गया शोक गाढ़ा।
तातोंवाले ब्रज-नृपति को देख आता अकेले॥ ८॥

एकाकी ही श्रवण करके कंत को सद्म आता।
दौड़ी द्वारे जननि हरि की क्षिप्त की भांति आई।
यों ही आए व्रज अधिप भी सामने शोक डूबे।
दोनों के ही हृदय तल की वेदना थी समाना॥ ९॥

आते ही वे निपतित हुईं बेल उन्मूलिता सी।
दोनों पाँवों निकट पति के हो महा खिद्यमाना ;
संज्ञा आई फिर जब उन्हें यत्न द्वारा जनों के।
रोती रोती अति व्यथित हो यों पती साथ बोली ॥ १० ॥

———

बिमुग्ध कारी मधु-मास मंजु था,
बसुंधरा थी कमनीयता-मयी।
बिचित्रता-साथ बिराजिता रही,
बसंत-बासंतिकता बनान्त में ॥ १ ॥
नवीन-भूता बन की बिभूति में,
बिनोदिता-बेलि बिहंग-वृन्द में।
अनूपता व्यापित थी बसंत की,
निकुंज में कूजित-कुंज कुंज में ॥ २ ॥
प्रफुल्लिता कोमलप-ल्लवान्विता।
मनोज्ञता-मूर्ति नितांत-रंजिता।
बनस्थली थी मकरंद-मोदिता।
अकीलिता-कोकिल-काकलीमयी ॥ ३ ॥
निसर्ग ने सौरभ ने पराग ने।
प्रदान की थी अति-कान्त भाव से।
बसुंधरा को पिक को मिलिन्द को।
मनोज्ञता मादकता मदांधता ॥ ४ ॥

बसंत की भाव-भरी-विभूति सी।
मनोज की मंजुल-पीठिका-समा।
लसी कहीं थी सरसा सरोजिनी।
कुमोदिनी-मानस-मोदिनी कहीं ॥ ५ ॥

———

कोर-कसर

देश का दुख न देखने वाले।
देख पाए कहीं न तुम जैसे ॥
आँख ऊँची न कर सके जब तो।
आँख ऊँची भला रहे कैसे ॥ १ ॥

वे बिचारी फूल जैसी लड़कियाँ।
जो नहीं बलिदान होते भी अड़ीं ॥
आँखवाले हम तुम्हें कैसे कहें।
जब नहीं आँखें अभी उन पर पड़ीं ॥ २ ॥

जब कि कस ली पत गँवाने पर कमर।
पत उतरने में रहा तब कौन डर ॥
बे परदा क्यों हों न परदे वालियाँ।
पड़ गया परदा तुम्हारी आँख पर ॥ ३ ॥

हम कहें कैसे कि आँखें हैं खुलीं।
सामने जब सांसतीं वे हो रहीं ॥
निज बुरी गत देख कर नहिं देखते।
आँख का है बन्द कर लेना यही ॥ ४ ॥

है कचूमर धर्म का नित कढ़ रहा।
है भली करनी कलपती दुख भरी ॥
जो गई हैं बाहरी आँखें बिगड़।
तो गईं क्यों फूट आँखें भीतरी ॥ ५ ॥

लड़ पड़े पोत के लिए सगे वे।
दूसरे लूट ले चले मोती ॥
एक क्या लाखबार देखें भी।
आँख इसकी हमें नहीं होती ॥ ६ ॥

जब कि दबते गए दबाने से।
लोग कैसे न तब दबावेंगे ॥
जब कि हम आँख देख लेवेंगे।
लोग आँखें न क्यों दिखावेंगे ॥ ७ ॥

दिन गए सिंह मार लेने के।
है भला कौन मार मन पाता ॥
मारते हैं जमा पराई अब।
है हमें आँख मारना आता ॥ ८ ॥

मिट चले हैं एक दिन मिट जाएँगे।
सहेंगे फूटी न आँजी सहेंगे॥
क्या बचाएँगे किसी बेदीन को।
हम सदा आँखें बचाते रहेंगे॥ ६॥

बिदकते देख देख अपनों को।
चोट जी ने न भूल कर खाई।
डूबता देख जाति का बेड़ा।
कब कभी आँख डबडबा आई॥ १०॥

———

श्री रामनरेश त्रिपाठी

जन्म संवत् १६४१—

सच पूछा जाय तो त्रिपाठी जी की काव्य धारा में मध्य कालीन कविता अनुप्राणित हुई है। इन्होंने शंकर जी के समाजसुधार का दृष्टि कोण विशाल और राष्ट्र के रूप में देखा है। इनकी कविता नवीन जीवन का आवरण पहन कर राष्ट्र के प्राणों के साथ केलि करती हुई निकली है। 'पथिक' और 'स्वप्न' में दासता के अस्तोन्मुख प्राणों को एक नवीन दिशा देखने का अवसर दिया है। इनकी अन्तरात्मा विश्व में स्थायी और समानाधिकार की भावना से प्रेरित होकर अदम्य घोष करती हुई प्रकट हुई है। विभूतियों के एकान्त आधिपत्य से प्रताड़ित होकर इन्होंने कविता को सर्वतोन्मुखी बताया है तथा अव्यासक्ति की एकान्त साधना से ऊपर उठकर हृदय के क्षितिज में एक प्रकार की उथल पुथल पैदा कर दी है। इनकी कविता में भाषा का परिमार्जन हुआ है। व्याकरण समस्त शुद्ध और मनोहर कला का उद्बोध हुआ है। आपने प्राचीन तथा अर्वाचीन कविता कौमुदियों की अप्रकाशित रेखा हिन्दी संसार के सन्मुख रखी है, जिससे जनता तथा पाठकों को विशेष लाभ हुआ है। आपने कई ग्रन्थों का सम्पादन भी किया है। आप बालक, युवा सभी

के लायक खूब अधिकार-पूर्ण रूप से लिखते हैं । आपकी भाषा मंजी हुई और सुन्दर होती है । अभी पिछले दिनों आपने बड़े परिश्रम से रामचरित-मानस का सम्पादन एवं उसकी व्याख्या लिखी है । यह सम्पादन हिन्दी संसार में अद्भुत और अनूठे ढंग का है । आप अंग्रेजी, संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी तथा कई अन्य भाषाओं के पण्डित हैं । आपके व्याख्यान जो हिन्दुस्तानी एकेडमी द्वारा प्रकाशित हुए हैं, बहुज्ञता बहुदर्शिता का परिचय देते हैं । आपके ग्रन्थ हैं:—कविताकौमुदी (६ भाग) पथिक, मिलन, हिन्दी का संक्षिप्त इतिहास, ग्रामगीत । रामचरितमानस, हिन्दीशब्दकल्पद्रुम, नीतिरत्नमाला (तीन खण्ड), लक्ष्मी, पृथ्वीराज चौहान, हिन्दीमहाभारत, उत्तरध्रुव की भयानक यात्रा, आनन्द वीणा, जयंत आदि । आजकल आप "वानर" नामक एक बालपत्र का सम्पादन करते हैं ।

(१)

एक समय स्वाधीन देश को
समझ-शत्रु-भय-रहित सुरक्षित
लोग स्वर्ग-सुख भोग रहे थे
शान्ति सहित, निर्विघ्न, अशङ्कित
सुधा-मधुर रसमय काव्यों को
पढ़ सुन समझ और अनुभव कर
अभिनय कर, विनोद-विनिमय कर
आनन्दित थे सब नारी-नर।

(२)

पारस्परिक सहानुभूतिमय
सकल मनुज नीरुज निरुपद्रव
हाट-बाट घर-घर में प्रतिदिन
करते थे संगीत महोत्सव

युवक-युवतियों के कलोल से
गूँजा रहता था घर उपवन
नित्य नवल कामना-निरत थे
विविध विलास-युक्त उनके मन ।

(३)

यह सुख देख द्वेष-वश अथवा
धन-लिप्सा वश बल संचय कर
एक शत्रु चतुरंग चमू ले
औचक आ पहुँचा सीमा पर
देशाधिप ने तुमुल युद्ध कर
रोका बहु संख्यक ले सैनिक
पर अरि की दुर्जेय अनी से
हार गया नृप नहीं सका टिक ।

(४)

विद्युत-वेगवन्त बैरी ने
पाकर बाधा रहित सुअवसर
कितने ही पुर नगर ग्राम घर
धान्यागार लिए अधिकृत कर
पहुँचा दी सत्वर स्वदेश में
यह घोषणा नृपति ने घर घर

अपने देश मान धन जन की
रक्षा करे प्रजा सब मिलकर।

(५)

मैं नितान्त असमर्थ हुआ हूँ
कोई मुझ पर रहे न निर्भर
अपनी यह असहाय अवस्था
चकित होगए लोग श्रवण कर
जैसे थे वे सुखाभिलाषी
वैसे ही थे सावधान नित
नीति-निपुण मन्त्रणा - कुशल थे
वे रहस्य-रक्षक इन्द्रिय-जित।

(६)

वे थे नीति-धर्म के रक्षक
जगज्जयी पुरुषों के वंशज
पृथ्वी भर के नृप होते थे
धन्य प्राप्त कर जिनकी पद रज
सत्य शौर्य विश्वास न्याय के
एक मात्र आधार धरा पर
वे ही थे; उनका जीवन था
जग के निविड विपिन में दिनकर।

(७)

वे न जानते थे भूतल पर
जीवित रहना पराधीन बन
न्याय और स्वातन्त्र्य जगत में
उनके थे दो ही जीवन-धन
सुन नृप की घोषणा शत्रु की
प्रबल शक्ति का पाकर परिचय
किया उन्हों ने शीघ्र शत्रु को
उचित दण्ड देने का निश्चय।

(८)

जय से दृढ़ विश्वास-युक्त थे
दीप्तिमान जिनके मुख-मण्डल
पर्वत को भी खण्ड खण्ड कर
रजकण कर देने को चंचल
कड़क रहे थे अति प्रचण्ड भुज
दंड शत्रु-मर्दन को विह्वल
ग्राम ग्राम से निकल निकल कर
ऐसे युवक चले दल के दल।

(९)

अपने शयनागार बन्द कर
दिए नवोढाओं ने तत्क्षण

बाँध दिए पतियों की कटि में
अति, कलाइयों में रण-कङ्कण
माताओं ने विजय-तिलक कर
छिड़के थे जिन पर पवित्र जल
ग्राम-ग्राम से निकल-निकल कर
ऐसे युवक चले दल के दल।

(१०)

अरि मर्दन के मानोभाव थे
जिन की मुख-आकृति में लक्षित
जिनके हृदय पूर्व पुरुषों की
वीर-कथाओं से थे रक्षित
जिनमें शारीरिक बल से था
कहीं अधिक उद्दाम मनोबल
ग्राम-ग्राम से निकल-निकल कर
ऐसे युवक चले दल के दल।

(११)

जिनकी नस-नस में विद्युत थी
आँखों में था क्रोध प्रज्वलित
छाती में उत्साह भरा था
वाणी में था प्राण प्रवाहित

मातृ-भूमि के लिए हृदय में
जिनके भरी भक्ति थी अविरल
ग्राम-ग्राम से निकल निकल कर
ऐसे युवक चले दल के दल।

(१२)

माँ ने कहा—दूध की मेरे
लज्जा रखना रण में हे सुत!
स्त्री ने कहा—लौटना घर को
आर्य पुत्र! तुम विजयी-श्री-युत
इन वचनों से गूँज रहे थे
जिनके श्रवण और अन्तस्तल
ग्राम ग्राम से निकल निकल कर
ऐसे युवक चले दल के दल।

(१३)

रहता था उत्साह प्रवाहित
गाँवों में राहों पर दिन भर
घर से निकल खड़ी रहती थीं
माताएँ भोजन जल लेकर
सैनिक युवकों को रणवर्ती
निज पुत्रों के तुल्य मानकर

खिला-पिला कर सुख पाती थीं
प्रेम-सहित दृग मूँद ध्यान कर।

(१४)

बहनें कहती थीं—हे भाई !
बैरी का अभिमान चूर्ण कर
विजयी योद्धा के बानक में
इसी राह होकर जाना घर
हम गायेंगी गीत विजय के
फूल और लाजा बरसा कर
बहनों को आनन्दित करना
हर्ष हमारा सुना सुना कर।

(१५)

बहुएं भूख प्यास बिसरा कर
पथ पर निर्निमेष दृग देकर
देख सैनिकों के सजधज निज
पतियों की छवि दृग में लेकर
पथ की ओर खोल वातायन
बार बार चुपचाप आह भर
किसी कल्पना में बेसुध सी
वहीं खड़ी रहती थी दिन भर।

(१६)

युद्ध जीत कर वीर वेष में
आएँगे मेरे प्राणेश्वर
पहनाऊँगी यह जय माला
इसी भावना को उर में धर
प्रातःकाल नित्य उठ कर के
उपवन से नव कुसुम चयन कर
हार गूँथ कर वे रखती थीं
प्रेम वारि से पूर्ण नयन कर।

(१७)

गाँव-गाँव में चौराहों पर
प्रति दिन सन्ध्या को नारी नर
एकत्रित हो युद्ध-भूमि के
अति रोचक वृत्तान्त श्रवण कर
हो जाते थे हर्ष-विमोहित
रोमाञ्चित गर्वित आनन्दित
कभी कभी चिन्तित आन्दोलित
उत्तेजित विक्षोभ-विकम्पित।

(१८)

करता था जब समराङ्गण में
कोई योद्धा प्राप्त वीर-गति

उसके जननी-जनक गाँव में
होते थे सब सम्मानित अति
उन्हें राष्ट्र-रक्षक कह कर सब
सादर करते थे मस्तक नत
क्षण में हो जाता था उनका
पुत्र-वियोग गर्व में परिणत।

(१६)

होता था जब समर-भूमि में
कोई सैनिक लड़कर आहत
उसकी वीर-प्रसू के अद्भुत
हो जाते थे भाव मनोगत
अपनी कोख पवित्र मान कर
वह कहती होकर आनन्दित
वीर-धर्म का मेरे सुत के
तन पर है स्मृति-चिह्न अलङ्कृत।

—"स्वप्न" से

पार्वतीय ग्राम

(१)

कहीं श्याम चट्टान, कहीं दर्पण-सा उज्ज्वल सर है।
कहीं हरे तृण खेत, कहीं गिरि-स्रोत-प्रवाह प्रखर है।
कहीं गगन के खम्भ, नारियल, तार भार सिर धारे।
रस रसिकों के लिए खड़े ज्यों सुप्त नकार इशारे॥

(२)

घेर रही हैं जिसे पल्लवित लता सुगन्धित झाड़ी।
छाया-शयित-सघन आच्छादित कुञ्चित पन्थ पहाड़ी।
सर्वोपरि उन्नत मन की-सी लक्षित अचल उँचाई।
एक घड़ी को भी न किसी के लिए हुई सुखदाई॥

(३)

ऊँचे से झरने झरते हैं, शीतल धार धवल है।
यहाँ परम सुख शान्ति-समन्वित नित आनन्द अटल है।
कहीं धार के पास शिला पर बैठ लोग क्षण भर को।
पा सकते हैं शान्ति, मिटा सकते हैं जी के ज्वर को॥

(४)

बार-बार बक-पंक्ति-गमन से उज्ज्वल फूलों वाली।
मेघ - पुष्प वर्षा से धूमिल घटा क्षितिज पर काली।
लहराती दृग की सीमा तक धानों की हरियाली।
वारिज नयन गगन-छवि-दर्शक सर की छटा निराली॥

(५)

कदली-वन से हरी धरा को देख न आँख अघाती।
क्यों यह नहीं गाँव वालों के जी की जलन मिटाती!
गेहूँ चने मटर जौ के हैं खेत खड़े लहराते।
क्या कारण है? जो ये मन का कुछ न विषाद मिटाते॥

(६)

निम्ब कदम्ब अम्ब इमली की श्याम निरातप छाया।
सेवन कर फिर लोक-शोक की याद न रखती काया।
बैठ बाग की विशद मेंड़ पर कोमल अमल पवन में।
आँख मूँद करता किसान है श्रम का अनुभव मन में॥

(७)

कोकिल का आलाप पपीहे की विरहाकुल बानी।
तोता मैना का विवाद बुलबुल की प्रेम कहानी।
मधुर प्रेम के गीत तरुनियाँ गातीं खेत निरातीं।
क्या ये क्षण भर को न किसी के मन का कष्ट भुलातीं?

(८)

विमलोदक पुष्कर में विकसे चित्र-विचित्र कुसुम हैं।
खड़े चतुर्दिक शान्त भाव से लतिकालिङ्गित द्रुम हैं।
देख सलिल-दर्पण में शोभा वे फूले न समाते।
दे प्रसून उपहार सरोवर को निज हर्ष जनाते॥

(९)

सुन्दर सर है लहर मनोरथ-सी उठकर मिट जाती।
तट पर है कदम्ब की विस्तृत छाया सुखद सुहाती।
लटक रहे हैं धवल सुगन्धित कन्दुक से फल फूले।
गूँज रहे हैं अलि पीकर मकरन्द मोद में भूले॥

(१०)

मञ्जुल मञ्जुल सदा सुसज्जित मज्जित छदन विसर से।
अलि-कुल आकुल बहुल मुकुल-संकुल व्याकुल नभ चर से।
आस पास का पथ सुरभित है महक रही फुलवारी।
बिछी फूल की सेज, बज रही वीणा है सुखकारी॥

(११)

नालों का संयोग, साँझ का समय, घना जंगल है।
ऊँचे नीचे खोह कन्दरे निर्जन बीहड़ थल है।
रह-रह कर सौरभ समीर में हैं वन-पुष्प उड़ाते।
ताप-तप्त जन यहां न आकर क्यों क्षण एक जुड़ाते ?

(१२)

सन्ध्या समय चतुर्दिक से बहु हर्ष-निनाद सुनाते।
विविध रूप रंगों के पक्षी झुण्ड झुण्ड मिल आते।
बैठ पल्लवों पर सब मिलकर गान मनोहर गाते।
अद्भुत वाद्य यन्त्र पादप को हैं प्रति दिवस बनाते॥

(१३)

प्रातः काल ममत्व हीन वे कहाँ कहाँ उड़ जाते।
जग को हैं अनित्य मेले का रोचक पाठ पढ़ाते।
यह सब देख नहीं क्यों मन में उत्तम भाव समाते ?
लोग यहाँ पर बैठ घड़ी भर क्यों न सीख कुछ जाते ?

(१४)

अति निस्तब्ध निशीथ तमावृत मौन प्रकृति-कुल सारा।
शान्त गगन में झिल मिल करते हैं नित नीरव तारा।
निद्रित दिशा, समीर सुकोमल, उदयोन्मुख हिमकर है।
क्या सब शोक भुलाने का यह नहीं एक अवसर है ?

(१५)

चारों ओर तुषार-धवल पर्वत चुपचाप खड़ा है।
प्रकृति-मुकुर सा एक सरोवर उसके मध्य जड़ा है।
तट पर एक शिला सुन्दर है बैठ यहाँ यदि जाते —
तो क्या एक घड़ी न किसी के दृग, मन, प्राण जुड़ाते ?

(१६)

लीची, श्रीफल, सेव, आम, बादाम, दाख, बेदाना।
रस से भरे विविध मेवों की रुचि आकृति है नाना।
सब प्रभु की अद्भुत रचना का दृश्य विचित्र दिखाते।
दिव्य अयाचित दया प्राप्त कर क्यों न लोग सुख पाते ?

(१७)

गिरि, मैदान, नगर, निर्जन में एक भाव में मातीं।
सरल,कुटिल अति तरल, मृदुल गति से बहुरूप दिखातीं।
अस्थिर समय समान प्रवाहित ये नदियाँ कुछ गातीं।
चली कहाँ से, कहाँ जा रहीं, क्यों आई, क्यों जातीं॥

(१८)

इन्हें देखकर क्यों न लोग आश्चर्य प्रकट करते हैं?
इनके दर्शन से निज मन की व्यथा नहीं हरते हैं!!
जहाँ लता तृण में हैं केवल भोग प्रतिष्ठा पाते।
टीबे ही टीबे बालू के जहाँ दृष्टि में आते॥

(१९)

मधुर मतीरे जहाँ कलेजे की है तपन मिटाते।
गाधि पुत्र की याद जहां हैं ऊंट भरूँट दिखाते।
मृगतृष्णा के दृश्य जहाँ पर नित्य देख पड़ते हैं।
इने गिने सावन-भादों में वारि-बिन्दु झड़ते हैं॥

(२०)

कोमल पथ है, दिशा शान्त है, वायु स्वच्छ सुखकर है।
गान भृंग का, नृत्य मोर का, दृश्य बड़ा सुन्दर है।
ऐसी विविध विलक्षणता से सजा प्रकृति का तन है।
होते क्यों न देखकर इनको हर्ष-विमोहित जन हैं?

(२१)

पङ्कज, रम्भा, मदन, मल्लिका, पोस्त, गुलाब, बकुल का।
रक्तक, कुंद-कली, पिक, किंशुक, नरगिस, मधुकर-कुल का।
संग्रह है चम्पक शिरीष का धर्म सुरभिमय नारी।
मानों फूल रही है सुन्दर घर-घर में फुलवारी॥

(२२)

क्यों न लोग उनके दर्शन से क्षण भर दुख बिसराते!
क्यों सब प्रकृति-मनोरञ्जन से इतनी अरुचि दिखाते!
एक-एक तृण बतलाता है, जगदीश्वर की सत्ता।
व्यापक है लघु से लघु में यह उसकी विपुल महत्ता॥

—"पथिक" से।

श्री जयशंकर 'प्रसाद'

[जन्म संवत्—१९४६]

प्रसाद जी हिन्दू कलेवर में उन्नत संस्कृति के बौद्ध थे परन्तु अनन्य आर्य भी। दार्शनिक, पंडित, इतिहासज्ञ, कलाकार, संगीतज्ञ, कवि, नाटककार, उपन्यास-आख्यायिका-गीतिकार सभी कुछ थे। हिन्दी साहित्य में आपके समान बहुज्ञ कम ही होंगे। आप हिन्दी काव्य के युगान्तरकारी कवि माने जाते थे। आपने हिन्दी में रहस्यवाद की अवतारणा की थी। आपकी कविताएं गम्भीर गुंथी हुई पर मधुर, दार्शनिक, रहस्यपूर्ण किन्तु मर्मस्पर्शिनी, आकाश के समान उन्मुक्त विहारिणी होती हैं। प्रकृति के तथ्यों का समीकरण आत्मा का अनुवाद जिस सुन्दर शैली में आप रखते थे वह और कहीं देखने को नहीं मिलता। इनकी कविता अन्तर की प्रेरणा के साथ विश्व के महाकाश से मिलकर समुद्भूत होती है, प्रकृति के समीकरण में उसकी आत्मा अभिव्यक्त होती है। विश्व को तन्द्रिल आंखों से देखकर उसके अपरूप एवं प्रच्छन्न रूप का साद्त्य करना कवि की कविताओं का उद्देश्य मालूम होता है। आपके शब्द बड़े गम्भीर किन्तु मीठे होते थे। इसीलिये कई लोगों का विश्वास है कि आप कभी कभी ऐसी बात कह जाते थे जो

पाठक की समझ से बाहर होती थी। प्रसाद जी की कविता का आकार, प्रकार, रूप, सौष्ठव तथा अर्थ का व्यक्तीकरण अद्भुत था, वे अपनी कविता के समान मनुष्य के बोध से ऊपर की वस्तु थे ऐसा उनकी कविता, गीति, कहानी और उपन्यास से ज्ञात होता है। इनकी चीजें विद्वानों के पढ़ने लायक, दार्शनिकों के विचारने योग्य, कला पारखियों के मनन की वस्तु होती हैं।

इन्होंने ब्रजभाषा में भी लिखा था इनकी लगभग पचीस पुस्तकें अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं। स्कन्दगुप्त नाटक पर आप को हिन्दुस्तानी एकेडमी ५००) का पुरस्कार भी प्राप्त हुआ था।

———

आँसू

चातक की चकित पुकारें
श्यामा ध्वनि तरल रसीली
मेरी करुणार्द्र-कथा की
टुकड़ी आँसू से गीली

बेसुध जो अपने सुख से
जिनकी हैं सुप्त व्यथायें
अवकाश भला है किनको
सुनने की करुण कथायें।

जीवन की जटिल समस्या
है बढ़ी जटा सी कैसी
उड़ती है धूल हृदय में
किसकी विभूति है ऐसी ?

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति सी छाई
दुर्दिन में आँसू बन कर
वह आज बरसने आई।

मेरे क्रन्दन में बजती
क्या वीणा-?-जो सुनते हो
धागों से इन आँसू के
निज करुणा-पट बुनते हो।

रो-रो कर सिसक-सिसक कर
कहता मैं करुणा-कहानी
तुम सुमन नोचते सुनते
करते जानी अनजानी।

मैं बल खाता जाता था
मोहित बेसुध बलिहारी
अन्तर के तार खिंचे थे
तीखी थी तान हमारी।

झंझा झकोर गर्जन था
बिजली थी नीरद माला
पाकर इस शून्य हृदय को
सबने आ डेरा डाला।

घिर जातीं प्रलय घटायें
कुटिया पर आकर मेरी
तम चूर्ण बरस जाता था
छा जाती अधिक अंधेरी।

बिजली-माला पहिने फिर
मुसक्याता था आँगन में
हाँ कौन बरस जाता था
रस-बूँद हमारे मन में ?

तुम सत्य रहे चिर सुन्दर
मेरे इस मिथ्या जग के
थे केवल जीवन संगी
कल्याण कलित इस मग के।

कितनी निर्जन रजनी में
तारों के दीप जलाये
स्वर्गङ्गा की धारा में
उज्ज्वल उपहार चढ़ाये !

गौरव था, नीचे आये
प्रियतम मिलने को मेरे
मैं इठला उठा अकिञ्चन
देखे ज्यों स्वप्न सवेरे।

मधु राका मुसक्याती थी
पहले देखा जब तुमको
परिचित-से जाने कब के
तुम लगे उसी क्षण हमको !

परिचय राका जलनिधि का
जैसे होता हिमकर से
ऊपर से किरणें आतीं
मिलती हैं गले लहर से।

मैं अपलक इन नयनों से
निरखा करता उस छवि को
प्रतिभा डाली भर लाता
कर देता दान सुकवि को

निर्झर-सा झिर-झिर करता
माधवी - कुञ्ज छाया में
चेतना बही जाती थी
हो मन्त्र - मुग्ध माया में।

पतझड़ था झाड़ खड़े थे
सूखी सी फुलवारी में
किसलय नव कुसुम बिछाकर
आये तुम इस क्यारी में।

शशि-मुख पर घूँघट डाले
अन्तर में दीप छिपाये
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आये!

घन में सुन्दर बिजली - सी
बिजली में चपल चमक - सी
आँखों में काली पुतली
पुतली में श्याम झलक सी।

प्रतिमा में सजीविता सी
बस गई सुछवि आँखों में
थी एक लकीर हृदय में
जो अलग रही लाखों में।

माना कि रूप - सीमा है
सुन्दर! तव चिर यौवन में
पर समा गए थे, मेरे
मन के निस्सीम गगन में!

लावण्य - शैल राई सा
जिस पर वारी बलिहारी
उस कमनीयता कला की
सुषमा थी प्यारी - प्यारी।

झरना

(१)

मधुर है स्रोत मधुर है लहरी।
न है उत्पात, छटा है लहरी॥
मनोहर झरना,
कठिन गिरि कहाँ विदारित करना।
बात कुछ छिपी हुई है गहरी।
मधुर है स्रोत मधुर है लहरी॥

(२)

कल्पनातीत काल की घटना।
हृदय को लगी अचानक रटना॥
देखकर झरना,
प्रथम वर्षा से इसका भरना।
स्मरण हो रहा शैल का कटना।
कल्पनातीत काल की घटना॥

(३)

कर गई लावित तन मन सारा।
एक दिन तव अपाङ्ग की धारा॥
हृदय से झरना—
बह चला, जैसे दृगजल ढरना।

प्रणायकन्या ने किया पसारा।
कर गई सावित तन मन सारा॥

(४)

प्रेम की पवित्र परछाँई में।
लालसा हरित विटपि झाँई में॥
वह चला झरना।
तापमय जीवन शीतल करना।
सत्य यह तेरी सुघराई में।
प्रेम की पवित्र परछाँई में।

बसन्त

तू आता है, फिर जाता है।
जीवन में पुलकित प्रणय सदृश,
यौवन की पहली कान्ति अकृश,
जैसी हो, वह तू पाता है, हे बसन्त! तू क्यों आता है?
पिक अपनी कूक सुनाता है,
तू आता है फिर जाता है।
बस, खुले हृदय से करुण कथा,
बीती बातें कुछ मर्म व्यथा,
वह डाल-डाल पर जाता है, फिर ताल-ताल पर गाता है।

मलयज मन्थर गति आता है,
तू आता है फिर जाता है।
जीवन की सुख दुख आशा सब,
पतझड़ हो पूर्ण हुई है अब,
बिकसित रसाल मुसक्याता है, कर किसलय हिला बुलाता है।
हे वसन्त ! क्यों तू आता है ?
तू आता है फिर जाता है।

किरण

किरण तुम क्यों बिखरी हो आज,
रंगी हो तुम किसके अनुराग,
स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान,
उड़ती हो परमाणु पराग।
धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश,
मधुर मुरली सी फिर भी मौन,
किसी अज्ञात विश्व की विकल-
वेदना-दूती सी तुम कौन ?
अरुण शिशु के मुख पर सविलास,
सुनहली लट घुँघराली कान्त,
नाचती हो जैसे तुम कौन ?—
उषा के अञ्चल में अश्रान्त।

भला उस भोले मुख को छोड़,
　　　　और चूमोगी किसका भाल,
मनोहर यह कैसा है नृत्य,
　　　　कौन देता है सम पर ताल ?
कोकनद मधुधारा सी तरल,
　　　　विश्व में बहती हो किस ओर ?
प्रकृति को देती परमानन्द,
　　　　उठाकर सुन्दर सरस हिलोर।
स्वर्ग के सूत्र सदृश तुम कौन,
　　　　मिलाती हो उससे भूलोक ?
जोड़ती हो कैसा सम्बन्ध,
　　　　बना दोगी क्या विरज विशोक !
सुदिन मणि वलय विभूषित उषा-
　　　　सुन्दरी के कर का संकेत—
कर रही हो तुम किस को मधुर,
　　　　किसे दिखाती प्रेम निकेत।
चपल ! ठहरो कुछ लो विश्राम,
　　　　चल चुकी हो पथ शून्य अनन्त,
सुमन मन्दिर के खोलो द्वार,
　　　　जगे फिर सोया वहाँ वसन्त।

———

विषाद

कौन, प्रकृति के करुण काव्य सा,
वृक्ष पत्र की मधु छाया में।
लिखा हुआ सा अचल पड़ा है,
अमृत सदृश नश्वर काया में॥
अखिल विश्व के कोलाहल से,
दूर सुदूर निभृत निर्जन में।
गोधूली के मलिनाञ्चल में,
कौन जंगली बैठा बन में॥
शिथिल पड़ी प्रत्यञ्चा किसकी,
धनुष भग्न सब छिन्न जाल है।
वंशी नीरव पड़ी धूल में,
वीणा का भी बुरा हाल है॥
किसके तममय अन्तरतम में,
झिल्ली की झनकार हो रही।
स्मृति सन्नाटे से भर जाती,
चपला ले विश्राम सो रही॥
किसके अन्तःकरण अजिर में,
अखिल व्योम का लेकर मोती।
आँसू का बादल बन जाता,
फिर तुषार की वर्षा होती?

विषम शून्य किसकी चितवन है,
ठहरी पलक अलक में आलस!
किसका यह सूखा सुहाग है,
छिना हुआ किसका सारा रस?
निर्झर कौन बहुत बल खाकर,
बिलखाता ठुकराता फिरता?
खोज रहा है स्थान धरा में,
अपने ही चरणों में गिरता।
किसी हृदय का यह विषाद है,
छेड़ो मत यह सुख का कण है।
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ,
करुणा का विश्रान्त चरण है।

———

श्री मैथिलीशरण गुप्त

[जन्म संवत् १६४३]

गुप्त जी ने हिन्दी काव्य-कानन में आमूल चूल युगान्तर उपस्थित कर दिया है। ये खड़ी बोली के काव्य में प्राणों की प्रेरणा करने वाले महाकवि हैं। आप इस समय सबसे अधिक यशस्वी एवं लोक-प्रिय कवि हैं। इनकी कविताएँ सम्पूर्ण भारत में आदर के साथ पढ़ी जाती हैं। इसीलिए आप राष्ट्र के कवि के रूप में विख्यात हैं। इनकी शब्द - योजना सुगठित सुसंगत और परिमार्जित होती है। इनकी कविता कई शैलियों, कई धाराओं में बही है परन्तु उनकी आत्मा सदा एक ही रही है। उसमें प्रातःकाल की उषा के समान सर्वदा प्रसाद गुण का प्रवाह बहा है। इन्होंने भाषा के साथ कविता के प्रवाह, गति, यति, सम्बोधन, अपनापन, आत्मसमर्पण, तल्लीनता आदि कई विचारों में शाश्वतिक एकता को कायम रखा है। स्पष्ट अभिव्यञ्जना में तो इनका कोई सानी ही नहीं है। ये सदा राम के परम भक्त किन्तु सभी श्रेष्ठ और महापुरुषों के उपासक रूप से हिन्दी जगत् में प्रगट होते रहे हैं। इनकी कविता में उपदेश, काव्यत्व, मर्मस्पर्शिता, तल्लीनता, सम्पूर्ण में आत्मत्याग

आदि कई भावनायें काम करती हैं। रसपरिपाक इनकी काव्य शैली का प्रधान गुण है। ये बहुश्रुत, बहुज्ञ होते हुए भी अत्यन्त विनीत, अत्यन्त साधु और अत्यन्त उदार प्रकृति के हैं, यही इनकी कविताओं से ज्ञात होता है। कविता इनके उपास्य की साधना है स्वयं उपास्य भी। ये मनोविज्ञानी, प्रकृति-प्रेमी, कलाकार और परदुखकातर सभी कुछ हैं। हिन्दी ने इनसे बहुत कुछ पाया है। २१ जुलाई सन् १९३६ से सम्पूर्ण भारत में आपकी वार्षिक जयन्ती मनाई जाने लगी है। आपने जयद्रथवध, किसान, गुरुकुल, भारत-भारती, पलासी-युद्ध, रंग में भंग, बक संहार, वनवैभव, हिन्दू, शकुन्तला, विरहिणी, प्रजांगना आदि कई पुस्तकें लिखी हैं, परन्तु साकेत, यशोधरा, द्वापर, सिद्ध-राज ऐसे काव्य हैं जो संसार के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों में रखे जा सकते हैं।

———

विराट वीणा

तुम्हारी वीणा है अनमोल।
हे विराट! जिस के दो तूंबे
हैं भूगोल—खगोल॥

दया-दण्ड पर न्यारे-न्यारे,
चमक रहे हैं प्यारे-प्यारे,
कोटि गुणों के तार तुम्हारे,
खुली प्रलय की खोल।
तुम्हारी वीणा है अनमोल॥

हँसता है कोई रोता है—
जिसका जैसा मन होता है,
सब कोई सुध बुध खोता है,
क्या विचित्र हैं बोल।
तुम्हारी वीणा है अनमोल॥

इसे बजाते हो तुम जब लों,
नाचेंगे हम सब भी तब लों,
चलने दो न कहो कुछ कब लों-
यह क्रीडा - कल्लोल।
तुम्हारी वीणा है अनमोल ॥

————

संघात

हम में है मचा संघात।
सब कहें अपनी, सुने तब कौन किसकी बात;
जाय तम का द्वन्द्व कैसे मोह की है रात।
अकड़ते हैं हम कि हठ का हो रहा हिम-पात,
एक कहता है तुझे रवि, अन्य सविता ख्यात।
जानता है एक उज्ज्वल दूसरा अवदात।
उदित हो तू ज्ञान का हो जाय आप प्रभात,
देख लें सब, एक तू बहु नाम तेरे तात।

————

यथेष्ट-दान

दूंगा सब मैं न्यारे-न्यारे
कुछ भी पास न रक्खूँगा मैं,
तभी त्याग-रस चक्खूँगा मैं।

घर-घर को, बाहर-बाहर को,
आज-आज को, कल-कल को,
जल-थल, जल-थल को, नभ-नभ को,
अनिलानल अनिलानल को,
और तुम्हें क्या दूंगा प्यारे ?
जो तुम माँगोगे सो दूँगा,
बदले में कुछ कभी न लूँगा।
बतला दो संकोच छोड़ कर
तुम किस में प्रसन्न रहोगे ?
मुझ से अपने को लोगे तुम
अथवा मुझको ही लोगे ॥

निरुद्देश निर्माण

प्यारे तेरे कहने से जो
यहां अचानक मैं आया।
यह विचित्र संसार सामने
उसी समय मैंने पाया ॥
क्षण-भंगुर होकर इसका सुख
आकर्षक था बहुत बड़ा,
क्योंकि दुःख-समुदाय उसे था
घेरे चारों ओर खड़ा।

खट-मिट्टे रस का मोहक था
यह मिट्टी का एक घड़ा,
कारीगरी देख कर इसकी
मैं चकराया, चौंक पड़ा!

तेरे बिना किन्तु मेरा मन
घटाटोप में घबराया;
प्यारे तेरे कहने से जो
यहां अचानक मैं आया॥

जाता कहां, मुझे भी इसके
वैचित्र्यों ने आ घेरा,
सखे! हार कर एक ओर तब
डाल दिया मैंने डेरा।

देख निभृत-सा बैठ गया मैं
करता हुआ ध्यान तेरा,
खींच रहा था धरती पर कुछ
रेखाएँ यह नख मेरा।

धीरे-धीरे सभी ओर से
आकर अन्धकार छाया;
प्यारे तेरे कहने से जो
यहां अचानक मैं आया॥

दिवस गया, कब सन्ध्या आई
दीप जले कब रात हुई ;
याद नहीं कुछ मुझे, न जाने
कहां कौन सी बात हुई।
बेला की यह सारी खेला
बस, बिजली सी ज्ञात हुई,
मुझे आत्म-विस्मृत करने को
तेरी स्मृति हे तात, हुई !

आखिर यही प्रभात-पूर्व का
पवन अपूर्व पुलक लाया
प्यारे तेरे कहने से जो
यहां अचानक मैं आया ॥

दीप्ति बढ़ी दीपों की सहसा,
मैं ने भी ली साँस, कहा—
सो जाने के लिए जगत का
यह प्रकाश है जाग रहा !

किन्तु उसी बुझते प्रकाश में
डूब उठा मैं, और बहा,
निरुद्देश नख-रेखाओं में
देखी तेरी मूर्ति अहा !

बतला दे ओ भटनागर, तू,
यह तेरी कैसी माया ?
प्यारे, तेरे कहने से जो
यहां अचानक मैं आया॥
रखता है कल-कण्ठ सखे तू
इसका कोमल नाम-कला,
निरुद्देश निर्माण न होगा
तो क्या इसका नाम भला ?
पर इस निरुद्देश साँचे में
तू क्यों अपने आप ढला ?
शङ्का—समाधान दोनों का
यों ही चिर आलाप चला !
तू हँसता था खड़ा सामने
धन्य भाव वह मन भाया,
प्यारे तेरे कहने से जो
यहां अचानक मैं आया॥

———

बार बार तू आया
पर मैंने पहचान न पाया।
हिम-कम्पित कृश-पाणि पसारे,
पहुँच बुभुक्षित मेरे द्वारे,

तूने मेरा धक्का खाया,
बार बार तू आया।

दीन दृगों से निकल पड़ा तू,
बड़ा सरस था विकल बड़ा तू,
पर मैं कौतुक से मुसकाया,
बार बार तू आया।

गलिताङ्गों का गन्ध लगाए,
आया फिर तू अलख जगाए,
हट कर मैंने तुझे हटाया,
बार बार तू आया।

आर्त-गिरा कानों में आई,
वह थी तेरी आहट लाई,
पर मैं उस पर ध्यान न लाया,
बार बार तू आया।

पीड़ित के निःश्वास—अरे रे!
मैं क्या जानूँ कर थे तेरे?
मुझ पर माया-मद था छाया,
बार बार तू आया।

अब जो मैं पहचानूँ तुझ को,
तो तू भूल गया है मुझ को,

मैं हूँ—जिसने तुझे भुलाया,
बार बार तू आया।
पर मैंने पहचान न पाया।

———

उर्मिला-लक्ष्मण-संवाद

सौध सिंह द्वार पर अब भी वही,
बाँसुरी रसरागिनी में बज रही।
अनुकरण करता उसी का कीर है,
पंजरस्थित जो सुरम्य शरीर है।
उर्मिला ने कीर सम्मुख दृष्टि की,
या वहां दो खंजनों की सृष्टि की!
मौन होकर कीर तब विस्मित हुआ,
रह गया वह देखता-सा स्थित हुआ!
प्रेम से उस प्रेयसी ने तब कहा—
"रे सुभाषी, बोल, चुप क्यों हो रहा?"
पार्श्व से सौमित्र आ पहुँचे तभी,
और बोले—"लो, बता दूँ मैं अभी।
नाक का मोती अधर की कान्ति से,
बीज दाड़िम का समझ कर भ्रान्ति से।
देख कर सहसा हुआ शुक मौन है,
सोचता है, अन्य शुक यह कौन है?"

यों वचन कह कर सहास्य विनोद से ,
मुग्ध हो सौमित्र मन के मोद से।
पद्मिनी के पास मत्त - मराल - से ,
हो गए आकर खड़े स्थिर चाल से ।

चारु - चित्रित भित्तियां भी वे बड़ी ,
देखती ही रह गईं मानों खड़ी।
प्रीति से आवेग मानों आ मिला ,
और हार्दिक हास आँखों में खिला ।

मुस्करा कर अमृत बरसाती हुई ;
रसिकता में सुरस सरसाती हुई।
उर्मिला बोली—"अजी तुम जग गए ?
स्वप्न-निधि से नयन कब से लग गए ?"

"मोहिनी ने मन्त्र पढ़ जब से छुआ ,
जागरण रुचिकर तुम्हें जब से हुआ !"
गत हुई संलाप में बहु रात थी ,
प्रथम उठने की परस्पर बात थी।

"जागरण है स्वप्न से अच्छा कहीं !"
"प्रेम में कुछ भी बुरा होता नहीं !"
"प्रेम की यह रुचि विचित्र सराहिए ,
योग्यता क्या कुछ न होनी चाहिए ?"

"धन्य है प्यारी, तुम्हारी योग्यता,
मोहिनी - सी मूर्ति मंजु - मनोज्ञता।
धन्य जो इस योग्य के मैं पास हूँ,
किन्तु मैं भी तो तुम्हारा दास हूँ।"

"दास बनने का बहाना किस लिए?
क्या मुझे दासी कहाना, इसलिए?
देव होकर तुम सदा मेरे रहो,
और देवी ही मुझे रक्खो अहो!"

उर्मिला यह कह तनिक चुप हो रही,
तब कहा सौमित्र ने कि—"यही सही।
तुम रहो मेरी हृदय-देवी सदा,
मैं तुम्हारा हूँ प्रणय - सेवी सदा।"

फिर कहा—"वरदान भी दोगी मुझे?
मानिनी कुछ मान भी दोगी मुझे?"
उर्मिला बोली कि—"यह क्या धर्म है?
कामना को छोड़ कर ही कर्म है!"

"किन्तु मेरी कामना छोटी - बड़ी,
है तुम्हारे पाद - पद्मों में पड़ी,
त्याग या स्वीकार कुछ भी हो भले,
वह तुम्हारी वस्तु आश्रित - वत्सले!"

"शस्त्रधारी हो न तुम, विष के बुझे,
क्यों न काँटों में घसीटोगे मुझे!
अवश अबला हूँ न मैं, कुछ भी करो,
किन्तु पैर नहीं, शिरोरुह तब धरो!"

"साँप पकड़ाओ न मुझ निर्दये,
देख कर ही विष चढ़े जिनका अये!
अमृत भी पल्लव पुटों में है भरा,
विरस मन को भी बना दे जो हरा।

'अवश, अबला' तुम? सकल बल-वीरता,
विश्व की गम्भीरता, ध्रुव-धीरता।
बलि तुम्हारी एक बाँकी दृष्टि पर,
मर रही है जी रही है सृष्टि भर!

भूमि के कोटर, गुहा, गिरि, गर्त भी,
शून्यता नभ की, सलिल-आवर्त भी,
प्रेयसी जिसके सहज-संसर्ग से,
दीखते हैं, प्राणियों को स्वर्ग से?

जन्म-भूमि ममत्व कृपया छोड़ कर,
चारु चिन्तामणि-कला से होड़ कर।
कल्प वल्ली-सी तुम्हीं चलती हुई,
बाँटती तो दिव्य फल फलती हुई!"

"खोजती हैं किन्तु आश्रय मात्र हम,
चाहती हैं एक तुम सा पात्र हम।
आन्तरिक सुख-दुःख हम जिसमें धरें,
और निज भव-भार यों हलका करें।

तदपि तुम—यह कीर क्या कहने चला?
कह अरे, क्या चाहिए तुझ को भला?"
"जनकपुर की राज - कुञ्ज - विहारिका,
एक सुकुमारी सलौनी सारिका!"

देख निज शिक्षा सफल लक्ष्मण हँसे,
उर्मिला के नेत्र खंजन से फँसे।
"तोड़ना होगा धनुष उसके लिए,"
"तोड़ डाला है उसे प्रभु ने प्रिये!

सुतनु, टूटे का भला क्या तोड़ना?
कीर का है काम दाडिम फोड़ना,
होड़ दाँतों की तुम्हारे जो करे,
जन्म मिथिला या अयोध्या में धरे!"
ललित ग्रीवा - भंग दिखला कर अहा!
उर्मिला ने लक्ष्य कर प्रिय को कहा—
"और भी तुम ने किया कुछ है कभी।
या कि सुग्गे ही पढ़ाए हैं अभी?"

"बस तुम्हें पाकर अभी सीखा यही !"
बात यह सौमित्र ने सस्मित कही।
"देख लूँगी"-उर्मिला ने भी कहा।
विविध विध फिर भी विनोदामृत बहा।

हार जाते पति कभी, पत्नी कभी,
किन्तु वे होते अधिक हर्षित तभी।
प्रेमियों का प्रेम गीतातीत है,
हार ही जिसमें परस्पर जीत है!

—"साकेत से"

एक कहानी

"माँ, कह एक कहानी।"
"बेटा, समझ लिया क्या तूने
मुझको अपनी नानी?"
"कहती है मुझ से यह चेटी,
तू मेरी नानी की बेटी!
कह माँ, कह, लेटी ही लेटी,
राजा था या रानी?
राजा था या रानी?
माँ कह एक कहानी।"

तू है हठी मानधन मेरे,
सुन, उपवन में बड़े सबेरे,
घूम रहे थे पितृपद तेरे,
जहाँ सुरभि मनमानी।"
"जहाँ सुरभि मनमानी ?
हाँ, माँ, यही कहानी।"
"वर्ण वर्ण के फूल खिले थे,
झलमल कर हिम बिन्दु झिले थे,
हलके झोंके हिले मिले थे,
लहराता था पानी।"
"लहराता था पानी ?
हाँ, हाँ, यही कहानी।"
गाते थे खग कल कल स्वर से,
सहसा एक हंस ऊपर से,
गिरा, बिद्ध होकर खर शर से,
हुई पक्ष की हानी!"
"हुई पक्ष की हानी ?
करुणा भरी कहानी।"
"चौंक उन्होंने उसे उठाया,
नया जन्म-सा उसने पाया।
इतने में आखेटक आया,

लक्ष्य-सिद्धि का मानी।"
"लक्ष्य-सिद्धि का मानी?
कोमल-कठिन कहानी।"
"माँगा उसने आहत पक्षी,
तेरे तात किन्तु थे रक्षी,
तब उसने जो था खग-भक्षी—
हठ करने की ठानी।"
"हठ करने की ठानी?
अब बढ़ चली कहानी।"

हुआ विवाद सदय-निर्दय में,
उभय आग्रही थे स्व-विषय में।
गई बात तब न्यायालय में,
सुनी, सभी ने जानी।"
"सुनी सभी ने जानी?
व्यापक हुई कहानी।"

"राहुल, तू निर्णय कर इसका—
न्याय पक्ष लेता है किसका?
कहदे निर्भय जय हो जिसका।
सुन लूँ तेरी बानी।"
"माँ मेरी क्या बानी?
मैं सुन रहा कहानी।"

"कोई निरपराध को मारे,
तो क्यों अन्य उसे न उभारे?
रक्षक पर-भक्षक को वारे,
"न्याय दया का दानी?
तूने गुनी कहानी।"

—"यशोधरा से"

———

श्री माखनलाल चतुर्वेदी

श्री चतुर्वेदी जी सच्चे कलाकार हैं। आपकी कविता व्यंग्य-पूर्ण रसभरी होती है। आपकी कविता की भाषा निराले ढंग की होती है, इनके हृदय में मानवता के प्रति जो अथाह वेदना सच्ची सहानुभूति भरी है वही इनकी कविताओं में झलका करती है। इसके अतिरिक्त कहने का ढंग इतना कलापूर्ण होता है कि ये लक्षणा अथवा व्यंजना द्वारा अपने हृदय की बात कह जाते हैं। यही कारण है कि कुछ लोग इनकी कविता के मर्म को नहीं समझ पाते। और एक गुत्थी सुलझते ही सम्पूर्ण विचार-धारा एक दम स्पष्ट सी हो जाती है। पाठक उस समय अपने आप को भूल सा जाता है। यही चतुर्वेदी जी की कविता की विशेषता है। इसके अतिरिक्त चतुर्वेदी जी की कविताओं में जीवन का अस्तित्व अनुभूति के साथ प्रकट होता रहता है। इनकी विचार-धारा जहाज़ के पक्षी के समान इधर-उधर उड़ने पर भी अपने केन्द्र को नहीं छोड़ती। इनकी कविता में नाचती हुई, उच्छ्वसित और अथाह वेदना पूर्ण कला के दर्शन होते हैं। तथा कहीं-कहीं सांकेतिक रहस्य-भावना के भी दर्शन होते हैं।

आप बड़े निर्भीक स्पष्ट-वक्ता देश-सेवी पत्रकार हैं। आजकल आप 'कर्मवीर' नामक साप्ताहिक पत्र का सम्पादन कर रहे हैं। आप इतने संकोची वृत्ति के कवि हैं कि कई प्रकाशकों के बार बार प्रयत्न करने पर भी आपने अपनी कविताओं का कोई संग्रह प्रकाशित नहीं कराया। आपके लेख भी बड़े मार्मिक होते हैं। आप कहानी भी लिखते हैं। आपकी साहित्य-देवता नामक रचना, जिसे इन पंक्तियों के लेखक ने देखा है, यदि प्रकाशित हो गई, तो मेरा विश्वास है वह हिन्दी साहित्य की अमर वस्तु होगी।

नव—स्वागत

तुम बढ़ते ही चले मृदुलतर जीवन की घड़ियाँ भूले,
काठ छेदने लगे सहसदल की नव पंखड़ियाँ भूले,
मन्द-पवन संदेश दे रहा, हृदय-कली पथ हेर रही,
उड़ो, मधुप ! नन्दन की दिशि में ज्वालाएँ घर घेर रही,

तरुण-तपस्वी आ तेरा
कुटिया में नव स्वागत होगा।
दोषी ! तेरे चरणों पर फिर
मेरा मस्तक नत होगा॥

सौदा

चाँदी-सोने की आशा पर अन्तस्तल का सौदा,
हाथ-पाँव जकड़े जाने को आमिष-पूर्ण मसौदा,
टुकड़ों पर जीवन की श्वासें-कितनी सुन्दर दर है,
हूँ उन्मत्त, तलाश रहा हूँ,-"कहाँ बधिक का घर है ?"

दमयन्ती के 'एक चीर' की—
मांग हुई बाज़ी पर।
देश - निकाला स्वर्ग बनेगा।
तेरी नाराज़ी पर॥

खीझमयी मनुहार

किन घड़ियों में तुझ को झाँका, तुझे झाँकना पाप हुआ;
आग लगे वरदान-निगोड़ा मुझ पर आकर शाप हुआ!
जाँच हुई नभ से भूमण्डल तक का व्यापक नाप हुआ;
अगणित वार समा कर भी छोटा हूँ-यह सन्ताप हुआ।
अरे अशेष! 'शेष' की गोदी
तेरा बने बिछौना - सा।
आ मेरे आराध्य! खिलालूँ
हैं भी तुझे खिलौना-सा।

उन्मूलित वृक्ष

भला किया, जो इस उपवन के सारे पुष्प तोड़ डाले,
भला किया, मीठे-फलवाले ये तरुवर मरोड़ डाले,
भला किया, सींचो पनपाओ, लगा चुके हो जो कलमें,
भला किया, दुनिया उलटा दी प्रबल उमंगों के बल में,

लो हम तो चल दिए,
नए पौधो-प्यारो! आराम करो।
दो दिन की दुनिया में आए,
हिलो-मिलो कुछ काम करो!!

पथरीले ऊँचे टीले हैं, रोज़ नहीं सींचे जाते,
वे नागर न यहां आते हैं, जो थे बागीचे आते,
झुकी टहनियाँ तोड़-तोड़ कर, बनचर भी खा जाते हैं,
शाखा-मृग कन्धों पर चढ़ कर भीषण शोर मचाते हैं।

दीन-बन्धु की कृपा
बन्धु, जीवित हैं, हाँ, हरियाले हैं,
भूले-भटके कभी गुज़रना
हम वे ही फलवाले हैं॥

आराधना

विश्वदेव! यह देख तुम्हारी दुर्गम चालें,
किस से क्या क्या कहें? कहाँ तक आँसू ढालें?
जी होता है,—तुम्हें सँभालें देखें भालें,—
'सुनो सुनो'-क्या सुनें? भुजाएँ स्वयं उठा लें।

'लो, सुनो'—' सफलता आरही,
है किन्तु मृत्यु के साथ है।
बस, उठो कर्म करने लगो,
जीत तुम्हारे हाथ है।'

———

हृदय

वीर सा गम्भीर सा यह है खड़ा
धीर हो कर यह खड़ा मैदान में।
देखता हूँ मैं जिसे तन - दान में
जन-दान में सानन्द जीवन-दान में॥
हट रहा जो दम्भ आदर प्यार से
बढ़ रहा जो आप अपनों के लिए।
डट रहा है जो प्रहारों के लिए
विश्व की भरपूर मारों के लिए॥
देवताओं की यहाँ पर बलि करो
दानवों का छोड़ दो सब दुःख-भय।
"कौन है ?"-यह है महान मनुष्यता
और है संसार का सच्चा हृदय॥ १॥
क्यों पड़ीं परतन्त्रता की बेड़ियाँ ?
दासता की हाय! हथकड़ियाँ पड़ीं।

क्यों क्षुद्रता की छाप छाती पर छपी ?
कण्ठ पर ज़ंजीर की लड़ियां पड़ीं ॥

दास्य भावों के हलाहल से हरे !
मर रहा प्यारा हमारा देश क्यों ?
यह पिशाची उच्च शिक्षा सर्पिणी
कर रही वर वीरता निःशेष क्यों ?
वह सुनो ! आकाश वाणी हो रही
'नाश पाता जायगा, तब तक विजय'
वीर?-'ना',धार्मिक?-'नहीं',सत्कवि?'नहीं',
देश में पैदा न हो जब तक हृदय ॥ २ ॥

देश में बलवान भी भरपूर हैं
और पुस्तक कीट भी थोड़े नहीं।
हैं यहां धार्मिक ढले टकसाल के
पर किसी ने भी हृदय जोड़े नहीं ॥

ठोकरें खातीं मनों की शक्तियाँ
राम-मूर्ति बने खुशामद कर रहे।
पूजते हैं देवता-दबते नहीं
दीन, दब्बू बन करोड़ों मर रहे ॥

"हे हरे ! रक्षा करो"-यह मत कहो
चाहते हो इस दशा पर जो विजय।

तो उठो, ढूँढो छुपा होगा कहीं
राष्ट्र का बल-'देश का ऊँचा हृदय' ॥ ३ ॥

फूल से कोमल, छबीला रत्न से
वज्र से दृढ़ शुचि सुगन्धी यज्ञ से।
अग्नि से जाज्वल्य हिम से शीत भी
सूर्य से देदीप्यमान मनोज्ञ से ॥

वायु से पतला पहाड़ों से बड़ा
भूमि से बढ़ कर क्षमा की मूर्ति है।
कर्म का औतार रूप शरीर जो
श्वास क्या संसार की वह स्फूर्ति है ॥

मन महोदधि है वचन पीयूष हैं
परम निर्दय है बड़ा भारी सदय।
कौन है ? है देश का जीवन यही
और है वह जो कहाता है हृदय ॥ ४ ॥

सृष्टि पर अति कष्ट जब होते रहे
विश्व में फैलीं भयानक भ्रान्तियाँ।
दंड अत्याचार बढ़ते ही गए
कट गए लाखों, मिटी विश्रान्तियाँ ॥

गद्दियाँ टूटीं असुर मारे गए—
किस तरह ? होकर करोड़ों क्रान्तियाँ।

तब कहीं हैं पा सकी माता मही
मृदुल जीवन में मनोहर शान्तियाँ ॥
बज उठी संसार भर की तालियाँ
गालियाँ पलटीं-हुई ध्वनि जयति-जय।
पर हुआ यह कब ? जहाँ दीखा अहो !
विश्व का प्यारा कहीं कोई हृदय ॥ ५ ॥

मुझ को कहते हैं माता !

अरे, मुझ को कहते हैं माता !
क्या जानेगा मेरे जी को, जो तू हुआ विधाता ?
जिस स्वरूप को प्रेम योगिनी बन कर खूब सँवारा।
उसे आज जी के टुकड़े पर, मैंने बरबस वारा।
रुमझुम करते दोनों आएँ-यशुदा सुत, मम लाला,
मैं तो प्रथम गोद में लूँगी, अपना प्रसव-कसाला।
सुत-मेरे जीवन, सुख, धन, यौवन की कुर्बानी है,
मेरे रक्त-बिन्दुओं की यह दुनिया लासानी है।
मुझ से मेरे पुनर्जन्म का बचपन खेल रहा है,
मेरे जी का टुकड़ा हँस कर, मुझे ढकेल रहा है।
हम तीनों हरियाले हैं, विकसित पुष्पित बचपन है,
रुमझुम है मेरा पानी, चुम्बन उसका जीवन है।

मेरी आँखों की पुतली हैं, घूमें दायें - बायें,
खटका हुआ कि गोद-पलक में पल में आ छुप जायें।
अपना उजड़ा बाग़ उसी दिन हरियाला पाती हूँ,
धात्री नहीं, विधात्री हूँ, यह अनुभव कर पाती हूँ।
फटे हुए, गरीब अंचल से खुला जवाहर दिखता,
वह दवात औंधा कर मेरे भाग्य-लेख जब लिखता।
उस क्षण प्रसव-वेदना सारी, वह कराह का भान,
भूखे सोना, निद्रा खोना, लोगों से अपमान।
चिन्ता से झुरझुर मरना, चिढ़ना, कुढ़ना, घबड़ाना,
पागलिनी बनकर लोगों पर कितने दोष लगाना।

यह सब स्मृति सम्मुख होती हैं, तिस पर मुस्काती हूँ,
उस क्षण-जिस क्षण मैं ता-ता पर 'बेता' कह पाती हूँ।
क्या कहती मैं, जी में मेरे खिंच सा गया सनाका,
और लाल को सोते में, मैंने पलने में झाँका।

फिर बोली—हम दोनों खेलें, बचपन में जो खेल,
सौदामिनी! अतिथि बन आया उन खेलों का मेल।
मेरी चाह हुई है प्यारी, इस सूरत की वाह,
यह मेरी कराह सोई है, बनकर विश्व सराह।

अरी जाग जाने दे इसको करने दे किलकारी,
मैं क्या, नारद भी भूलेंगे, उस छन ता ना ना ना।

कल मैंने रोते पाया फिर घुटनों के बल चलता,
फिर चन्दा के लिए दौड़ ज़ीने पर खूब मचलता,
फिर मैंने शाला में जाते देखा धीरे-धीरे,
प्रश्नों से गुरु को तँगवाते देखा धीरे धीरे,
धीरे से वह दिन भी देखा—बढ़ी नर्मदा तैरा,
मृगन्नाथ के विन्ध्य-शिखर पर दौड़ चढ़ा हँस हँसकर,
फिर देखा सामन्त जनों में, मेघ गर्जना करते,
फिर देखा, विजय- श्री को, घायल होकर भी वरते,
अरी सीपियो, तुम ने बूँदों से मोती रच डाले,
किन्तु बिन्दु से सिन्धु लाड़ला मेरा भी तो देखो।
"जग जादू का नहीं?" भूल मत कहना ऐसा फिर से,
मानव बूँदों की यह प्रभुता, किस जादू से कम है?
अरे किन्तु मैं फूल न जाऊँ, भूल न जाऊँ पथ से
कोई रहे विश्व को,-मुझ दुखिया का वह लल्ला है
कभी पूछता मुझ ही से, यह मेरा हृदय कवित्व,
जग में क्यों दुहराया हमने, यह अपना अस्तित्व?
बूढ़ों की लकड़ी करने? या जग में बल भरने को?
या विधि की सम्पूर्ण कला को जगती में धरने को?
निज गौरव मन्दिर पर यह है कलश-प्रदान हमारा?
या भारत की बलि वेदी पर यह बलिदान हमारा?

मैं क्या कह दूँ?-हुए बावले, कुछ भी जान न पाया,
विधि ने अपना काम बनाया, हम ने गोद खिलाया।
उज्ज्वल या कि निरुज्ज्वल है यह, खोटा या कि खरा है,
मिश्रण है या मूल रूप है, विष या अमिय भरा है।
क्या जानूँ, है जरूरतों की रिश्वत का परिणाम।
अथवा कुटिल परिस्थितियों का है यह एक गुलाम?
मैं तो यही जानती मेरा जी ही इसका घर है,
इसे काढ़ दूँ? यह तो मेरे बूते से बाहर है!
यह है मेरी नामी का, या बदनामी का गान,
मुझ अकुलानी की यह है बस कुर्बानी की तान।
मैं हूँ जोगन नहीं कि साधूँ कोई भारी नेम,
हरि ही जाने, कैसा है यह मेरा पुत्र-प्रेम।
मेरी बिनती एक—किसी पर वह संकट मत टूटे,
जग में चाहे महा प्रलय हो, लज्जा कभी न छूटे।

———

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

[जन्म संवत् १९५५–]

निराला जी दार्शनिक रहस्यवादी कवि हैं। आपकी कविताओं पर अद्वैत वेदान्त की स्पष्ट छाया प्रतीत होती है। आप रहस्यवाद स्कूल के प्रमुख स्तम्भ माने जाते हैं। इन्होंने गीति-काव्य का बीज वपन किया है। प्रायः सभी तरह की कविताएँ लिखते हैं। इनके वर्णन में अस्पष्टता तथा ध्वनि-गांभीर्य अधिक होता है। कवि की अपेक्षा ये दार्शनिक अधिक हैं। इनकी अभिव्यंजना अत्यन्त गहरी होती है जो साधारण पाठक की पहुँच से बाहर है। इनकी कविता में पूर्व और पश्चिम की दोनों धाराएँ मिलती हैं। इनकी रचनाओं से ज्ञात होता है कि रविबाबू का इनके एकान्तजीवन पर अधिक प्रभाव पड़ा है। ये कबीर से रहस्यवादी, पन्त से छायावादी, प्रसाद से गम्भीरतावादी हैं। निराला जी अंग्रेजी, बंगला के विद्वान् हैं इसी लिये दोनों भाषाओं की कला का इन पर बहुत प्रभाव पड़ा है। आपका गद्य भी बहुत गम्भीर होता है। इनके लिखे हुए—कवीन्द्र रवीन्द्र, अनामिका, परिमल, गोविन्ददास पदावली आदि अच्छे ग्रन्थ हैं। इन्होंने अतुकान्त, एवं स्वच्छन्द छन्दों का भी निर्माण किया है। आप समालोचक भी अच्छे हैं।

———

तुम और मैं

तुम तुङ्ग हिमालय शृंग, और मैं चंचल गति सुर-सरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास, और मैं कान्ति-कामिनी कविता॥
तुम प्रेम और मैं शान्ति।
तुम सुरा पान घन अन्धकार,
मैं हूँ मतवाली भ्रान्ति।
तुम दिनकर के खर-किरण-जाल, मैं सरसिज की मुसकान।
तुम वर्षों के बीते वियोग, मैं हूँ पिछली पहचान॥
तुम योग और मैं सिद्धि।
तुम हो रामानुज निश्चल तप,
मैं शुचिता सरल समृद्धि।
तुम मृदु मानस के भाव, और मैं मनोरंजिनी भाषा।
तुम नन्दन-वन-घन-विटप, और मैं सुख-शीतल-तल-शाखा॥
तुम प्राण और मैं काया
तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म,
मैं मनमोहिनी माया।

तुम प्रेममयी के कंठ-हार, मैं वेणी काल-नागिनी।
तुम कर पल्लव-झंकृत सितार, मैं व्याकुल विरह-रागिनी॥

तुम पथ हो, मैं हूँ रेणु,
तुम हो राधा के मन मोहन,
मैं उन अधरों की वेणु।

तुम पथिक दूर के श्रान्त, और मैं बाट जोहती आशा।
तुम भवसागर दुस्तार, पार जाने की मैं अभिलाषा॥

तुम नभ हो, मैं नीलिमा,
तुम शरद्-सुधाकर कला-हास,
मैं हूँ निशीथ-मधुरिमा।

तुम गन्ध-कुसुम कोमल पराग, मैं मृदु गति मलय-समीर।
तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष, मैं प्रकृति-प्रेम-जंज़ीर॥

तुम शिव हो, मैं हूँ शक्ति,
तुम रघुकुल गौरव रामचन्द्र,
मैं सीता अचला भक्ति॥

तुम हो प्रियतम मधुमास, और मैं पिक-कल-कूजन तान।
तुम मदन पंचशर हस्त, और मैं हूँ मुग्धा अनजान॥

तुम अम्बर, मैं दिग्वसना,
तुम चित्रकार घन-पटल श्याम,
मैं तड़ित्तूलिका - रचना॥

तुम रणताण्डव-उन्माद नृत्य, मैं युवति-मधुर-नूपुर ध्वनि।
तुम नाद वेद ओंकार सार, मैं कवि शृंगार-शिरोमणि॥
तुम यश हो, मैं हूँ प्राप्ति,
तुम कुन्द-इन्दु-अरविन्द शुभ्र,
तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति।

———

फुटकर

प्रिय, मुंदित दृग खोलो !
गत स्वप्न-निशा का तिमिर-जाल
नव किरणों से धोलो—
मुंदित दृग खोलो !

जीवन-प्रसून वह वृन्तहीन
खुल गया उषा-नभ में नवीन,
धाराएँ ज्योति-सुरभि उर भर
बह चलीं चतुर्दिक कर्म-लीन
तुम भी निज तरुण-तरङ्ग खोल
नव अरुण-सङ्ग होलो—
मुंदित दृग खोलो !

वासना-प्रेयसी बार-बार
श्रुति-मधुर मन्दस्वर से पुकार
कहती प्रतिदिन के उपवन के
जीवन में, प्रिय, आई बहार
बहती इस विमल वायु में
बह चलने का बल तोलो—
मुंदित दृग खोलो !

भूलूँ मैं अपने मन को भी
तुझ को अपने प्रियजन को भी ?
फिर तू हँसती हुई दशा पर मेरी, प्रिय मुख मोड़,
जायेगी ज्यों का त्यों मुझ को यहाँ अकेला छोड़ !
भला इतना तो कह दे सुख या दुःख भर लेगी,
जब इस नद से तू कभी नई नैया अपनी खेयेगी ?

यमुने

किसकी स्वप्नों-सी आँखों की
पल्लव - छाया में अम्लान
यौवन की माया सा आया
मोहन का सम्मोहन ध्यान ?
गन्ध-लुब्ध किन अलि-बालों के
मुग्ध हृदय का मृदु गुञ्जार
तेरे दृग-कुसुमों की सुषुमा
जाँच रहा है बारम्बार ?

यमुने, तेरी इन लहरों में
किन अधरों की आकुल तान
पथिक-प्रिया सी जगा रही है
उस अतीत के नीरव गान ?

सजनि ! कहाँ अब वह वंशीवट ?
कहाँ गए नट-नागर श्याम ?
चल-चरणों का व्याकुल पनघट
कहाँ—कहाँ वह केलि ललाम ?
कभी यहाँ देखे थे जिनके
श्याम-विरह से तप्त शरीर,
किस विनोद की तृषित गोद में
आज पोंछती वे दृग-नीर ?

रंजित सहज सरल चितवन में
उत्कण्ठित सखियों का प्यार
सखि ! आँसू सा ढुलक गया वह
विरह-विधुर उर का उद्गार !

तू किस विस्मृति की वीणा से
उठ उठकर कातर झनकार
उत्सुकता से उकता उकता
खोल रही श्रुति के दृढ़ द्वार ?-
अलस प्रेयसी-सी स्वप्नों में
प्रिय की शिथिल सेज के पास,
लघु लहरों के मधुर स्वरों में
किस अतीत का गूढ़ विलास ?

उर-पुर में नूपुर की ध्वनि-सी
मादकता की तरल तरंग
विचर रही है मौन पवन में
यमुने ! किस अतीत के संग ?

किस अतीत का दुर्जेय जीवन
अपनी अलकों में सुकुमार
कनक-कुसुम सा गूँथा तू ने,
यमुने, किसका रूप अपार ?
निर्निमेष नयनों में छाया
किस विस्मृति मदिरा का राग ?-
अब तक पलकों के पुलकों में
छलक रहा है विपुल सुहाग !

मुक्त हृदय के सिंहासन पर
किस अतीत के वे सम्राट
दीप रहे जिनके मस्तक पर
रवि-शशि-तारे-विश्व विराट ?

निखिल विश्व की जिज्ञासा थी
आशा की तू झलक अमन्द,
अन्तःपुर की निज शय्या पर
रचती मृदु छन्दों के बन्द

किस अतीत के सुहृद करों में
अर्पित करती है निज ध्यान—
ताल ताल के द्रुत कम्पन में
बहते हैं ये किस के गान ?

विहगों की निद्रा - से नीरव
कानन के संगीत अपार
किस अतीत के स्वप्न-लोक में
करते हैं मृदु पद - संचार ?

मुग्धा के लज्जित पलकों पर
तू यौवन की छवि अज्ञात
आँख-मिचौनी खेल रही है
किस अतीत-शिशुता के साथ ?
किस अतीत सागर संगम को
बहते खोल हृदय के द्वार
वीहित के हित सरल अनिल से
नयन सलिल से स्रोत अपार ?

उस सलज्ज ज्योत्स्ना सुहाग की
फेनिल शय्या पर सुकुमार
उत्सुक, किस अभिसार निशा में
गई कौन स्वप्निल पर मार ?

उठ उठ कर अतीत विस्मृति से
किसकी स्मिति यह-किसका प्यार
तेरे श्याम कपोलों में खिल
कर जाती है चकित विहार ?
जीवन की इस सरस सुरा में
सखि है किसका मादक राग,
फूट पड़ा तेरी ममता में
किसकी समता का अनुराग ?

किन नियमों के निर्मम बन्धन
जग की संसृति का परिहास
कर, बन जाते आकुल क्रन्दन ?
सखि, वे किसके निर्दय पाश ?-

———

संतप्त

अपने अतीत का ध्यान
करता मैं गाता था गाने-भूले, कुछ म्रियमाण ;
एकाएक क्षोभ का अन्तर में होते संचार
उठी व्यथित उँगली से कातर एक तीव्र झंकार,
विकल वीणा के टूटे तार !

मेरा आकुल-क्रन्दन—
व्याकुल वह स्वर-सरित्-हिलोर
वायु में भरती करुणा मरोर,
बढ़ती है तेरी ओर।
मेरे ही क्रन्दन से उमड़ रहा यह तेरा सागर—
सदा अधीर,
मेरे ही बन्धन से निश्चल
नन्दन-कुसुम-सुरभि-मधु-मदिर समीर;
मेरे गीतों का छाया अवसाद,
देखा जहाँ वहीं है करुणा—
घोर विषाद
ओ मेरे!—मेरे उन्मोचन बन्धन!
ओ मेरे!—ओ मेरे क्रन्दन-बन्धन!
ओ मेरे अभिनन्दन!
ये संतप्त लिप्त कब होंगे गीत
हृत्तल में तब जैसे शीतल चन्दन?

विवधा

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भार में लीन,

वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की विधवा है,
षड़ऋतुओं का शृंगार
कुसुमित कानन में नीरव पर-संचार,
अमर कल्पना में स्वच्छन्द विहार—
व्यथा की भूली हुई कथा है
उसका एक स्वप्न अथवा है,
उसके मधु सुहाग कर दर्पण,
जिस में देखा था उसने
बस, एक वार बिम्बित अपना जीवन धन,
अबल हाथों का एक सहारा—
लक्ष्य जीवन का प्यारा-वह ध्रुव तारा-
दूर हुआ, वह बहा रहा है
उस अनन्त पथ से करुणा की धारा!
हैं करुणा रस से पुलकित इसकी आँखें,
देखा तो भीगीं मन-मधुकर की पाँखें;
रसावेश में निकला जो गुँजार
वह और न था कुछ, था बस हाहाकार।
करुणा की सरिता के मलिन पुलिन पर
टूटी हुई कुटी का मौन बढ़ा कर,

छिन्न हुए भीगे अंचल में मन की—
रूखे-सूखे अधर-त्रस्त चितवन को
दुनिया की नज़रों से दूर बचाकर
वह रोती अस्फुट स्वर में,
सुनता है आकाश धीर निश्चल-समीर—
सरिता की वे लहरें भी ठहर ठहर कर।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

[जन्म संवत् १९५७]

पन्त जी हिन्दी के युगान्तरकारी मधुर कवि हैं। आप प्रकृति की आत्मा से साक्षात् करके उसका वर्णन करते हैं। इनकी कविता विश्व-प्रपंच के निर्झर से छलछला कर उद्भूत आनन्द का बोध करती हुई प्रवाहित होती है। वह विश्व के विश्लेषण में तल्लीनता और तज्जन्य आनन्द से अभिसिक्त होकर एक एक रेखा के संकेतों को उद्गार सा प्रकट कर देती है। मेघों की गर्जन, तारों का टिमटिमाता प्रकाश, फूलों का विकास, कलियों का मृदुहास कवि के हृदय में एक संगीत के रूप में प्रकट होता है और वह उसे जीवन की घटनाओं के स्थायित्व में रखकर जलधारा की उर्मियों के समान अस्खलित अविद्रुत रूप में प्रकट करता है। कोमल कान्त पदावली पन्त जी की अपनी चीज़ है। वे शब्दों के सीमित संकेतों द्वारा असीम की ओर थिरक थिरक कर चलते हैं। उनकी कविता का प्रवाह मीठा किन्तु द्रुततर लय के साथ तरल और तन्मय होकर चलता है। वे वेदनाओं में प्रत्यक्ष की प्रतीति सी करके आनन्द की अनुभूति करते हैं। वे कल्पना के मधुरतर पंखों पर उड़ते हुए नज़र आते हैं। और अनुभूति उनके स्वरों एवं मूर्छनाओं से झलकी सी पड़ती है। विश्व के

प्रत्येक संकेत में, प्रत्येक उद्गार में उन्हें एक तन्मयता दिखाई देती है । इसी लिये पन्त जी प्रकृत कवि हैं । ये तुकान्त, अतुकान्त, मुक्तक सभी कुछ लिखते हैं । अब उनकी कविताओं में कुछ कुछ दार्शनिकता सी प्रकट होने लगी है । इन्होंने रहस्यवाद के साथ छायावाद की अधिक रचनाएँ की हैं । इन्होंने उच्छ्वास, पल्लव, वीणा, गुंजार, ग्रन्थि, ज्योत्स्ना आदि कई सुन्दर काव्य एवं नाटक लिखे हैं । आप अंग्रेजी संस्कृत के अच्छे जानकार हैं ।

सूने पल

आते कैसे सूने पल
जीवन में ये सूने पल!
जब लगता सब विशृंखल,
तृण, तरु, पृथ्वी, नभ-मण्डल।

खो देती उर की वीणा
झंकार मधुर जीवन की,
बस साँसों के तारों में
सोती स्मृति सूनेपन की।

बह जाता बहने का सुख,
लहरों का कलरव, नर्तन,
बढ़ने की अति इच्छा में
जाता जीवन से जीवन।

आत्मा है सरिता के भी,
जिससे सरिता है सरिता;
जल जल है लहर लहर रे,
गति गति, सृति सृति चिर-भरिता

क्या यह जीवन? सागर में
जल-भार मुखर भर देना!
कुसुमित-पुलिनों की क्रीड़ा-
व्रीड़ा से तनिक न लेना?

सागर-संगम में है सुख,
जीवन की गति में भी लय;
मेरे क्षण क्षण के लघु कण
जीवन लय से हों मधुमय।

अज्ञात वेदना

जाने किस छल-पीड़ा से
व्याकुल-व्याकुल प्रतिपल मन,
ज्यों बरस-बरस पड़ने को
हों उमड़-उमड़ उठते घन!

अधरों पर मधुर अधर धर,
कहता मृदु स्वर में जीवन—
बस एक मधुर इच्छा पर
अर्पित त्रिभुवन-यौवन-धन!

पुलकों से लद जाता तन,
मुँद जाते मद से लोचन;
तत्क्षण सचेत करता मन—
ना, मुझे इष्ट है साधन!

इच्छा है जग का जीवन,
पर साधन है आत्मा का धन;
जीवन की इच्छा है छल,
इच्छा का जीवन जीवन।

फिरतीं नीरव नयनों में
छाया-छवियाँ मन-मोहन
फिर-फिर विलीन होने को
ज्यों घिर-घिर उठते है घन।

ये आधी अति इच्छाएँ
साधन में बाधा-बन्धन;
साधन भी इच्छा ही है,
सम इच्छा ही रे साधन।

रह-रह मिथ्या-पीड़ा से
दुखता दुखता मेरा मन,
मिथ्या ही बतला देती,
मिथ्या का रे मिथ्यापन।

———

स्वर्ण-प्रात

विहग , विहग ,

फिर चहक उठे ये पुंज-पुंज ,
कल-कूजित कर उर का निकुंज ,
चिर सुभग, सुभग !

किस स्वर्ण-किरण की करुण-कोर
कर गई इन्हें सुख से विभोर ?
किन नव स्वप्नों की सजग-भोर ?
हँस उठे हृदय के ओर-छोर
जग-जग खग करते मधुर-शोर ,
मैं रे प्रकाश में गया बोर !
चिर - मुँदे मर्म के गुहा-द्वार ,
किस स्वर्ग-रश्मि ने आर-पार
छू दिया हृदय का अन्धकार !
यह रे, किस छवि का मदिर तीर !
मधु-मुखर प्राण का पिक अधीर
डालेगा क्या उर चीर - चीर !
अस्थिर है साँसों का समीर ,
गुंजित भावों की मधुर - भीर ,
झर झरता सुख से अश्रु - नीर !

बहती रोओं में मलय-त्रात,
स्पन्दित-उर, पुलकित पात-गात,
जीवन में रे यह स्वर्ण-प्रात!
नव रूप, गन्ध, रँग, मधु, मरन्द,
नव आशा, अभिलाषा अमन्द,
नव गीत-गूँज, नव भाव, छन्द,—

(ये)

विहग, विहग
जग उठे, जग उठे पुंज पुंज,
कूजित गूँजित कर उर-निकुंज,
चिर सुभग, सुभग!

———

अभिमान!

मिले तुम राकापति में आज
पहने मेरे दृग-जल का हार;
बना हूँ मैं चकोर इस बार,
बहाता हूँ अविरल जल-धार,
नहीं फिर भी तो आती लाज......
निठुर यह भी कैसा अभिमान?

हुआ था जब सन्ध्या-आलोक
हँस रहे थे तुम पश्चिम ओर,
विहग-रव बन कर मैं चितचोर!
गा रहा था गुण, किन्तु कठोर!

रहे तुम नहीं वहाँ भी, शोक!...
निठुर! यह भी कैसा अभिमान?

याद है क्या न प्रात की बात?
खिले थे जब तुम बनकर फूल,
भ्रमर बन, प्राण! लगाने धूल
पास आया मैं, चुपके शूल

चुभाये तुमने मेरे गात...।
निठुर यह भी कैसा अभिमान?

कहाते थे जब तुम ऋतुराज
बना था मैं भी वृक्ष-करील
रात-दिन दृष्टि-द्वार उन्मील
बुलाया तुम्हें (यही क्या शील!)

न आये पास, सजा नव साज...
निठुर! यह भी कैसा अभिमान?

अभी मैं बना रहा हूँ गीत

अश्रु से एक एक लिख घात

किया करते हो जो दिन-रात,

बुझाते हो प्रदीप बन वात,

प्राणप्रिय ! होकर तुम विपरीत...

निठुर यह भी कैसा अभिमान ?

याचना

मकड़ी का मृदु माया-जाल

इस रसाल के सघन-शाल में

जीवन-शैय्या के दृग-जल का

पहना है शुचि मुक्ता माल !

आम्र-मञ्जरी का मृदु-वास,

विकसित-किसलय, मधुमय-हास,

इस वसन्त में कितनों का है

अन्त कर चुका अचिर-प्रकाश !

फैला छवि के बाहु-मृणाल !

माँ

माँ मेरे अरि को बल दो,

उसको यही कठिन फल दो,

जिससे सतत सतर्क रहूँ मैं,

निज अवलम्ब अचञ्चल दो ,
सदा स्वेदमय रख यह भाल !
मुझे मृणाल-तन्तु से बाँध ,
करना सफल न अरि की साध ,
कठिन-निगड़ से बँधवा कर माँ !
धीरज देना अटल, अगाध ;
निडर काल से कर विकराल !

———

बालकृष्ण शर्म्मा 'नवीन'

[जन्म संवत् १६५४]

नवीन जी उत्कट राष्ट्रवादी, प्रमुख साम्यवादी और अत्यन्त प्रभावशाली कवि हैं। ये अपने ढंग के अनूठे, निराले और अलमस्त गायक है। इनकी कविताओं में गर्जना, विस्फोट सुमधुर स्वर संगीत-धारा सभी कुछ रहता है। सुख मानव के बीच एक आवरण सा हो कर आता है। उसके अनुभव में मनुष्य सब कुछ भूल जाता है, दुःख मनुष्य को एक ही भूमि पर लाकर रख देता है वहाँ पद-मर्यादा, वैभव आदि कुछ नहीं होते। उसकी रेखा मनुष्य मात्र के लिये एकसी है, इसलिये कवि निराशा में आशा का बल न पाकर प्रफुल्लित हो उठता है। और कभी कभी कवि निराशा के इतने गहरे गर्त में पहुँच जाता है कि अपना सुखदुःख भूलकर विश्व का नाश कर देने को प्रकृति का आह्वान करने लगता है। नवीन जी की कविता कुछ कुछ इसी ढंग की है। इसकी कविता पर उर्दू का प्रभाव भी है। ये उद्रेक में आकर कभी-कभी ग्राम्य शब्दों का प्रयोग भी कर जाते हैं, परन्तु वे होते सुन्दर हैं। इनकी रचनाएँ हृदय को स्पर्श करती, टकराती, उसे

तोड़ती हुई निकलती हैं। तथा कभी कभी टूटे हुए हृदय-तारों को जोड़कर एक नई स्वर-योजना तैयार करती सी देख पड़ती हैं। इनकी कविता में प्रवाह का नियंत्रण बहुत कम होता है; एक उच्छल जलधार सी बह कर पाठक को उसमें डुबो देती है। आपने बहुत लिखा है, पर कोई कविता-संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ। आप प्रभा के सम्पादक रह चुके हैं। नागपुर हिन्दी-सम्मेलन में आप कवि-सम्मेलन के सभापति का आसन भी सुशोभित कर चुके हैं।

———

विप्लव-गायन

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ—
जिससे उथल पुथल मच जाए।

एक हिलोर इधर से आए—एक हिलोर उधर से आए,
प्राणों के लाले पड़ जाएँ, त्राहि त्राहि-रव नभ में छाए,
नाश और सत्यानाशों का, धुआँधार जग में छा जाए,
बरसे आग, जलद जल जाएँ, भस्मसात भूधर हो जाएँ,
पाप पुण्य, सदसद्भावों की,—धूल उड़ उठे दाएँ बाएँ,
नभ का वक्षस्थल फट जाए, तारे टूक टूक हो जाएँ,
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ—
जिससे उथल पुथल मच जाए॥ १॥

माता की छाती का अमृतमय पय कालकूट हो जाए,
आँखों का पानी सूखे,—वे शोणित की घूँटें हो जाए,

एक ओर कायरता काँपे, गतानुगति विगलित हो जाए,
अन्धे मूढ़ विचारों की वह-अचल शिला विचलित हो जाए,
और दूसरी ओर कँपा देनेवाला गर्जन उठ धाए,
अन्तरिक्ष में एक उसी नाशक तर्जन की ध्वनि मँडराए,
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ—
जिससे उथल पुथल मच जाए ॥ २॥

नियम और उपनियमों के ये बन्धन टूक टूक हो जाएँ,
विश्वम्भर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जाएँ,
शान्ति-दण्ड टूटे—उस महारुद्र का सिंहासन थर्राए,
उसकी पोषक श्वासोच्छ्वास विश्व के प्राङ्गण में घहराए,
नाश ! नाश !! हा, महानाश !!! की प्रलयंकरी आँख खुल जाए,
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ—
जिस से उथल पुथल मच जाए ॥ ३ ॥

सावधान ! मेरी वीणा में चिनगारियाँ आन बैठी हैं,
टूटी हैं मिजराबें, युगलांगुलियाँ ये मेरी ऐंठी हैं,
कण्ठ रुका जाता है, महानाश का गीत रुद्ध होता है,
आग लगेगी क्षण में, हृत्तल में अब क्षुब्ध-युद्ध होता है,
झाड़ और झंखाड़ व्याप्त हैं—इस ज्वलन्त गायन के स्वर से,
रुद्ध गीत की क्षुब्ध-तान—
निकली है मेरे अन्तर तर से ॥ ४ ॥

कण कण में हैं व्याप्त वही स्वर रोम-रोम गाता है वह ध्वनि,
वही तान गाती रहती है-काल-कूट फणि की चिन्तामणि,
जीवन ज्योति लुप्त है—आहा हैं प्रसुप्त संरक्षण-घड़ियाँ,
लटक रही हैं प्रतिपल में इस नाशक संभक्षण की लड़ियाँ।
चकनाचूर करो जग को—गूँजे ब्रह्माण्ड नाश के स्वर से,
रुद्ध गीत की क्रुद्ध तान-निकली है मेरे अन्तर्तर से ॥ ५ ॥
दिल को मचल मचल मेंहदी—रचवा आया हूँ मैं, यह देखो-
एक-एक अंगुलि-परिचालन में नाशक-तांडव को पेखो।
विश्व-मूर्ति ! हट जाओ—यह बीभत्स प्रहार सहे न सहेगा,
टुकड़े टुकड़े हो जाओगी, नाशमात्र अवशेष रहेगा।
आज देख आया हूँ—जीवन के सब राज़ समझ आया हूँ,
भ्रू-विलास में महानाश के, पोषक-सूत्र परख आया हूँ।
जीवन-गीत भुला दो—कण्ठ मिला दो मृत्यु गीत के स्वर से,
रुद्ध गीत की क्रुद्ध तान-निकली है मेरे अन्तर्तर से ॥ ६ ॥

प्रज्ज्वलित वह्नि

(राग, विहाग-तिताला)

बह चली, आह कैसी बयार !
खोला अतीत का जटिल द्वार।
जीवन-वन की वृक्षावलियाँ,
विस्मृत पथ की सँकरी गलियाँ,

अति व्यथित हास्य की नव कलियाँ,
तिमिर - ग्रस्ता पर्णावलियाँ,
कर रही अनोखा आज प्यार;—
बह चली, आह, कैसी बयार!

बीते दिवसों का अन्धकार,
घेरे था जिसका क्षुद्र द्वार,
उस हृदय - कूप का नीर क्षार,
कम्पित होता है बार बार;
लेवे कोई इसको उबार—
बह चली, आह, कैसी बयार!

मन - मन्दिर की उस सीढ़ी पर
कल्पना, भावनायें चढ़ कर,
देती थीं विमल अर्घ्य सत्वर
जिस मूक - भाव के पत्थर पर,
उससे निकलीं ये बूँद चार—
बह चली, आह, कैसी बयार!

सिंहासन पर थी जमी धूल
पर कहीं न दीखा वह दुकूल,
जो बाँधे लाता चार फूल,
पोंछता सुआसन फूल फूल।

हाँ अब आया ज्ञालन - विचार
बह चली, आह, कैसी बयार !

रवि - किरणों की सुन्दर जाली,
खग्रास - ग्रहण - आभा काली,
दोनों उलझी थीं मतवाली;
जीवन प्रकाश से पथ ख़ाली

था, फिर आई, किरणें अपार।
बह चलीं, आह, कैसी अपार !

सुन्दरता के झकझोरों में,
वासन्ती के कल भौरों में,
श्रावण के प्यार हिंडोरों में,
दुख की रोटी के कौरों में।

मिल गया आज फिर से दुलार;
बह चली, आह, कैसी बयार !

पागल की बहकी बातें हैं;
योगी को ये भ्रम रातें हैं।
तुम रोते हो, हम गाते हैं;
टूटे स्वर में सुख पाते हैं।

दुख ही में पाया सुख प्रसार—
बह चली, आह, कैसी बयार !

ये पंख उड़ाते हैं मन को
मैं क्या कहूँ ? क्या जानूँ तन को ?
उन्मत्त शराबी इस छन को
पा गया. अहो, जीवन धन को;
फिर फिर स्मृति की अति ही अपार—
बह चली, आह, कैसी बयार !

बैठी है पत्ती - पत्ती में,
पूजार्त्ति दीप की बत्ती मे,
अर्पित तण्डुल की रत्ती में,
वे दो - मसीह की 'मत्ती' में,
बैठी है मेरी सुमनुहार—
बह चली, आह, कैसी बयार !

मेरी निकुंज की गलियों में,
आता वह घृत ले पलियों में,
धरता है दीवे अलियों में,
गणना है उसकी छलियों में,
स्मृति-दीपक बुझता बार-बार—
बह चली, आह, कैसी बयार !

कुछ देर जले यह दिया और,
गूँथूँ माला का एक छोर,

विस्मृति की आँधी, कर न शोर,
चंचलते, बहकाओ न मोर,
मेरे मन का, गाकर मलार—
बह चली, आह, कैसी बयार !

किसको आराधूँ ? चलूँ कहाँ ?
किसकी मुरली को सुनूँ कहाँ ?
किसका प्रेमामृत पियूँ कहाँ ?
किस अग्नि - लोक में जियूँ कहाँ ?
जिस से छूटें बन्धन - विचार—
बह चली, आह, कैसी बयार !

वेदने, सुनो मेरी वाणी,
हृत्खंड जलाओ कल्याणी !
तुम जिस प्रदेश की हो रानी,
कर दो वह भस्म, न दो पानी !
तब निकलें शोले तीन-चार—
बह चली, आह, कैसी बयार।

इस हृदय - यज्ञ का धूम्र - यान
लेकर आवेगा मूर्तिमान
मेरी आहों का अश्रु-दान
स्मृति-रत्नों से भूषित महान।

उस झाँकी पर होऊँ निसार;
बह चली, आह, कैसी बयार!

गत आनन्दों के अश्रु क्षीण!
आगत दुख के अनुभव प्रवीण!
अव्यक्त भावना-भरी बीन!
यों हाथ जोड़ कहता 'नवीन'
प्रज्वलित वह्नि सुलगे अपार—
हृत्खंड करे फिर जल-बिहार!
निकलें सोते उन से अपार—
बह चले, अहो, ऐसी बयार!

सूखे आँसू

क्यों कलेजे की तड़प धीमी पड़ी—
आज दिल सुनसान सा क्यों हो रहा?
आँख के अव्यक्त भावों की लड़ी—
तोड़दी किसने? कहाँ धन खो गया?
इस विषमता की सरसता सूख कर—
किस सरोवर में तिरोहित हो गई?
इस विपिन में वह कुहुकिनी कूक कर—
किस निनादित वेणु-वन में सो गई?

सिसकने में ही मज़ा मिलता रहा,
कसक की उस वेदना की चाह से—
हम विपन्नों का कमल खिलता रहा!
दर्द को दिल से लगाया चाह से!!
हाय! पर वह दर्द मेरा क्या हुआ?
किस निठुर ने हाय! पट्टी बाँध दी?
लोल-लोचन-बिंदु, तुम अब हो कहाँ?
सूखता है यह विटप—
लो,
देख लो!

———

श्री जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द'

(जन्म-तिथि कार्तिकी पौर्णिमा संवत् १६६४ वि०)

आप जैसे विद्वान् हैं, वैसे ही सुहृदय, विनम्र और स्नेही स्वभाव के। हाँ, आप में पर्याप्त मात्रा में उत्कृष्ट साहित्य-सृजन करने का आत्म-विश्वास है और इस आत्म-विश्वास को कुछ लोग इनका अभिमान भी कह देते हैं।

आपकी रचनाओं में गंभीरता के साथ सरसता, मार्मिकता तथा आध्यात्मिक भावनाओं का समावेश है। भाषा पूर्णरूप से परिमार्जित होती है। भाषा में किसी प्रकार की तुतलाहट इन्हें पसंद नहीं।

पद्य के साथ ही गद्य लिखने में भी हिन्दी-भाषा में इनकी जोड़ के कम लेखक हैं। आपका प्रताप-प्रतिज्ञा नाटक अप्रतिम है और उसकी हजारों प्रतियाँ थोड़े से वर्ष में बिक गई हैं।

आपकी अनेक रचनाओं में राष्ट्रीयता, बलिदान-भावना, जीवन-प्रदायिनी शक्ति है। आपकी 'मेरे कुमार' कविता की जोड़ की हिन्दी-भाषा में कोई रचना नहीं है।

आप हिन्दी, संस्कृत, मराठी, बंगला, गुजराती, अंग्रेजी, उर्दू आदि भाषाएँ जानते हैं और उनका उच्च साहित्य पढ़ने का आपको मर्ज़ है।

तीन-कलाधर

१

अंधा-गायक

नीरव खंजरी लिए गोद में
तुम - इस राह - किनारे,
तरु के तले टाट पर बैठे
रहते हो मन मारे।

सहसा कभी नाच उठती हैं
आते ही प्रियतम की याद—
खँजरी पर उँगलियाँ, कंठ में
तानें, ओठों पर आह्लाद।

नभ की ओर उठाकर जब ये
पलकें 'पुतली' - हीन,
आत्म-निवेदन-सा करते हो
होकर तुम तल्लीन।

उमड़-उमड़ पड़ते हैं स्वर से
प्राणों के मद के प्याले,
ठिठक बटोही चित्र-लिखे से
रह जाते सुनने वाले।

केवल तुम्हीं देख पाते हो
उर की आँखों से उर में,
स्वर की नभ-चुंबी डोरों से
उतर समुद्र अंतःपुर में।

कितनी सुरभि,सुधा-मधु कितना,
कितनी छवि, कितना संगीत,
कितना सुख, कितनी मादकता,
कितना स्नेह, प्रकाश, प्रतीति,

इन छोटे से प्राणों में 'प्रिय'
एक साथ भर जाते हैं।
तरु के तले बटोही केवल
एक गान सुन पाते हैं।

त्रिभुवन का आलोक तुम्हारे
अंतर में भर जाता है।
अतः बाहरी जग में तुमको
तिमिर शेष रह जाता है।

———

२

मूक-चित्रकार

उषा, तारिका, इन्दु-धनुष में,
नीरव लहराते जल में,
कहता है कुछ चंद्र-किरण में,
कुछ नभ में, कुछ बादल में।

फूलों के रंगीन मौन में
मंदस्मित-भाषा बन कर,
उर के अनुभव-सा धीरे से
खिलता है जो चिर-सुंदर।

उसी भुवननायक की भाषा
मौन, तुम्हारी है भाषा,
तुम रंगीन विश्व के राजा
नीरव जगती की आशा।

× × ×

नयनों के नंदन-वन में,
हे चित्रकार, भरमा कर
रख लेते हो त्रिभुवन की
भाषा को मूक बना कर।

× × ×

———

जहाँ नहीं झंकार स्वरों की,
शब्दों का विस्तार नहीं,
रंगी का संसार नहीं,
रेखाओं का आकार नहीं।

वहीं इन्हीं नयनों में छवि बन
हो उठता है व्यक्त अजान,
यह युग-युग का मूक हृदय,
ये जन्म जन्म के नीरव प्राण।

× × ×

पट पर तो कभी-कभी तुम
कर पाते हो छवि-अंकन,
छवि ही बन गया तुम्हारा
पलकों में सारा जीवन।

× × ×

'अनुभूति' न तुम खोते हो
कहने सुनने में सारी,
बस हृदय समझ लेता है
भाषा रंगीन तुम्हारी।

कब 'अपनी बात' तुम्हारी
रख पाता 'मौन' छिपाकर!
कर देते व्यक्त 'हृदय' तुम
पुतली में चित्र बना कर।

३

बधिर-कवि

प्रांत बना रहता श्रवणों के
कारण यह जग सारा है,
श्रवण शून्यता ही साधक का
सब से सरस सहारा है।

श्रवण मूंद, तन्मय हो, विधि ने
किया एक सौंदर्य - सृजन,
वही विकल वसुधा पर उतरा
मधुमय हृदय तुम्हारा बन।

× × ×

उस तल्लीन साधना को ले
जब से विधि से तुम ने दान,
इस अनंत अज्ञात पंथ पर
प्रथम चरण रख दिया अजान,

जीवन में सौंदर्य - पिपासा,
प्राणों में अक्षय संगीत,
उर में युग - निर्माण - भावना,
नयनों में आदर्श पुनीत।

अधरों में मधु लिए चले
जाते हो हर्षोत्फुल्ल बदन।
'अलख' -लोक वासी प्रिय के
पुर के पथ पर अविरत प्रतिक्षण।

× × ×

विधि-निषेध के बंधन, जग के
व्यंग कहाँ, उपहास कहाँ,
'तानों' की तानें सुनने का,
समय कहाँ, अवकाश कहाँ ?

निज पथ पर चलते रहते हो
मिला तुम्हें गति का 'निर्वाण'
दूर देश के अथक पथिक हे,
हे कवि, हे अद्भुत, अनजान !

पदक्षेप में अगणित त्रुटियाँ
गिनते रहते हैं रज - कण,
पर तुम चलते ही जाते हो
पथ पर पागल से प्रतिक्षण।

जग के कलुषित कोलाहल में
सदा सुरक्षित है 'सुंदर',
श्रवणों पर पट डाल, हृदय में
छिपा रखा प्रियतम का स्वर।

वही अमर स्वर गूँज रहा है
आदि काल से प्राणों में,
अतः 'शून्य' अनुभव करते हो
मर्त्य जगत् के गानों में।

———

त्रिलोचन

काल-कूट विष कुटिल एक में,
सरल एक में संजीवन,
एक नयन में मरण तुम्हारे,
एक नयन में है जीवन।

सृजन निखिल द्वंद्वों का करते
खेल-खेल में युग लोचन।

एक पलक में मुँदती रजनी,
एक पलक में खुलता दिन,
क्रीड़ा का क्रम-सृजन-विसर्जन
प्रचलित है प्रति दिन प्रतिक्षण

कितना अस्थिर है लीलामय
पलकों का उत्थान-पतन!

× × ×

मौनालाप, प्रकाश-अँधेरा,
राग-विराग, जरा-यौवन,
तृप्ति-अतृप्ति निराशा-आशा,
रुदन-हँसी, विस्मरण-स्मरण,

सुख-दुख, हानि-लाभ, यश-अपयश,
विजय-पराजय, जन्म-मरण,

आँख-मिचौनी खेला करती
प्रति पल चपल मुक्ति-बन्धन,
जाग्रत और सुषुप्त विश्व के
खुला—मुँदा करते लोचन,

जब तुम एक-एक कर क्रमशः
करते आवृत विवृत नयन।

× × ×

इस प्रतिदिन की लीला पर ही
मोहित होकर जड़-चेतन,
हाय, लुटा देते हैं पल में
युग-युग का संचित साधन,

सहज मूँद लेते हो तब तुम
एक साथ दोनों लोचन

× × ×

खुलना-मुँदना भूल अध खुले
रह जाते है विश्व-नयन,
रुक जाती द्वन्द्वों की लीला,
स्थिर हो जाता है त्रिभुवन,

युग-युग की समाधि से ऋषिसा—
जगता जब तीसरा नयन,

सूर्य चन्द्र दीपक बुझ जाते,
तम-प्रकाश खो जाते हैं
सुख-दुख के सपने जागृति के
लय में लय हो जाते हैं,

नभ भूतल की सीमा-रेखा
ढँक लेता है महामिलन।

× × ×

द्वेष नहीं है, प्रीति नहीं है,
संशय नहीं, प्रतीति नहीं है,
अनय नहीं है, नीति नहीं है,
जन्म-मरण की भीति नहीं है,

जहाँ ढालते हो 'अभेद' के
प्याले में मद-सी चितवन,

तृप्ति नहीं है, प्यास नहीं है,
जहाँ भोग या त्याग नहीं,
शाप नहीं, वरदान नहीं है,
'भैरव' नहीं, 'विहाग' नहीं,

वहीं झूम उठता है त्रिभुवन,
आह, तुम्हारा सम्मोहन !

स्मित में, आँसू में, विस्मृति में,
भर भर मैं, प्राणों के छन्द
सुख में, दुख में, मादकता में
तव छवि पर वारूं सानन्द।

मेरे अंतर के त्रिभुवन के
अयि, त्रिकाल सहचर त्रिनयन !

नूतन और पुरातन

सजनि ! शिशिर आया, वन-उपवन, देखो-सिहर उटे तत्काल;
काँप उठे पीले पत्ते—'अब छूटेगी तरुवर की डाल !'
एक-दूसरे से कहते हैं—" छोड़ो अब ममता माया ;
जीवन का अवसान-सँदेशा निष्ठुर परिवर्तन लाया !" ॥ १ ॥

प्रबल वायु के झोंकों में मिलकर उड़कर होकर निर्मूल ?
बनना पड़े एक दिन हमको दूर विजन के पथ की धूल '
—इसके पूर्व,चलो, झड़कर भी, हम इतना सा काम करें—
जब तक आय वसन्त, विटप के चरणों में विश्राम करें ॥ २ ॥

आने वाले नवल पल्लवों का, फिर, कर स्वागत सत्कार।
गत जीवन की त्रुटियों का लेखा दे जाएँ पुकार—पुकार,
कह जावें—'हों नव वसन्त यह तुमको सुखकर-श्रेयस्कर ;
पर, प्यारो, यह भूल न जाना, जीवन सब का है नश्वर ॥ ३ ॥

जिसमें जीने की सार्थकता, जिसमें खिलने का सम्मान,
उस सेवा की सरस साधना का प्रतिपल रखना तुम ध्यान,
हारे-थके बटोही को तुम, हरे भरे यौवन पर फूल,
हृदय खोलकर शीतल छाया देना कहीं न जाना भूल ॥ ४ ॥

खेल-खेल में खो न बैठना उर का सब सम्बल अनजान।
कहीं अन्त में रह न जायँ दृग में आँसू, उर में अरमान !
कहीं न अगला शिशिर अचानक आ तुम से यह कहलाए—
"बीत गया पलकों में जीवन, हाय, न कुछ करने पाए !" ॥ ५ ॥

और इधर अपना भी तो, सखि ! जीवन-लेख समाप्त हुआ,
नयनों का धन चुका, न प्राणों का संचय पर्याप्त हुआ !
निर्जन वन में लुटे पथिक-सी, विकल क़लम गति-हीन हुई,
इष्ट-लाभ की आशा की अन्तिम रेखा भी क्षीण हुई ॥ ६ ॥

ठिठक गईं कम्पित अँगुलियाँ; थक बैठा सहचर उत्साह,
अब न प्रेरणा और उमंगें दिखलातीं आगे की राह!
लोभ-मोह से लाभ? हमें माया-ममता से अब क्या काम?
चलो, लगा दें, प्रिये, अधूरे ही आशय पर पूर्ण विराम ॥ ७ ॥

अगणित जीवन-गाथाएँ जिस पर लिख हारे गुणी अनन्त,
किन्तु न अब तक आदि काल से मिला किसी को जिसका अन्त,
उस अनन्त पट के चरणों में करलें अन्तिम बार प्रणाम,
और असीम नील अम्बर की छाया में क्षणभर विश्राम ॥ ८ ॥

फिर, आगे न सही पीछे ही, मुड़कर एक दृष्टि लें डाल,
और क्षितिज पर आहों से लिख छोड़ें गत जीवन का हाल;
अमर रहे त्रुटियों का लेखा, यह अपूर्णता का इतिहास,
गूँजे सदा वायु-मण्डल में यह पछतावा, यह उच्छ्वास ॥ ९ ॥

सुनें महामानव भविष्य के यह अतीत की वाणी क्षीण,
जब आरम्भ किया चाहें इस पट पर जीवन लेख नवीन,—
"स्वागत, नव युवको! जीवन की क्रान्ति, विश्व के नव मधुमास!
काटो जीर्ण जरा के बन्धन, भरदो वसुधा में उल्लास ॥ १० ॥

हमें कुचलकर बढ़ो, किन्तु उस बढ़ने पर मत फूलो तुम,
हमें भूल जाओ, पर, त्रुटियों को न हमारी भूलो तुम,
उनसे कुछ ले पूर्ण बनो तुम, प्यारो, युग-निर्माण करो,
मानवता के चरम-लक्ष्य का प्रतिक्षण अनुसन्धान करो ॥ ११ ॥

है अशेष यात्रा-पथ यह जग, प्रति क्षण यहाँ कर्म अविराम,
जीवन एक अनन्त लेख है, गति ही है जिस का विश्राम।
हे चिर-जाग्रत! उर में अंकित कर रखना यह अमर विचार,—
'अपनी सीमा के बाहर भी उस विराट का है विस्तार' ॥ १२ ॥

ओछे अक्षर तुम्हें न अपनी माया में लें भुला अजान,
इस पट की निस्सीम परिधि पर रहे तुम्हारा प्रतिपल ध्यान;
खेल खेल में कहीं बीच ही में हो जाय न अवधि तमाम,
रहे अधूरा ही आशय, सहसा आ पहुँचे पूर्ण विराम! ॥ १३ ॥

———

श्री सियारामशरण गुप्त

(जन्म संवत् १९५२)

गुप्तजी खड़ी बोली के प्रधान अभिव्यंजना वादी कवि हैं। इनकी कविता शैली बिल्कुल निराली है। ये आख्यान द्वारा पाठक के हृदय को स्पर्श करते हैं। प्रकृति के एक छोटे प्रपात द्वारा जीवन के कई सूक्ष्म रहस्यों का उद्घाटन करने में आप बड़े प्रवीण हैं। इस के अतिरिक्त भावुकता, सहानुभूति, पर-दुख-कातरता इनकी कविताओं का प्रधान रूप है। ऐसा ज्ञात होता है कि कवि के हृदय में विश्व के दुख से पीड़ित के लिये एक अथाह समुद्र भरा है और वे उस सम्पूर्ण प्रताड़ना को अपने हृदय के आसुओं से धो डालने के लिये लालायित हो रहे हैं। इनकी कविता जीवन का सजीव एक चित्र सी जान पड़ती है। वर्ण्य विषय का आकार ऐसा हृदयग्राही है कि पाठक उसमें तन्मय सा हो जाता है। मालूम होता है कि कवि जगत् की पीड़ा से त्रस्त सा होकर प्रकृति में उसकी सान्त्वना ढूंढ रहा है परन्तु प्रकृति बड़ी निष्ठुर है—वह उसके प्रति कोई सहानुभूति नहीं दिखलाती। तथा कहीं कहीं प्रकृति उस पीड़ा से दुखी होकर पीड़ित के प्रति हृदय भी खोल कर रख देखी है। दोनों ही प्रकार की विवेचनाएँ हैं। आप करुण रस के उत्कृष्ट कवि हैं। शब्द

योग भी इनका अपना ही है। ये सब से पूर्व सरल वाक्यों द्वारा पाठक के हृदय में एक गहरी सहानुभूति का द्वार खोलते हैं तत्पश्चात् अपनी घटना से उसको विह्वल बना देते हैं।

इन्होंने—उपन्यास, नाटक, कहानी, कविता सभी लिखी हैं। आपकी रचनाओं में अन्तिम आकांक्षा, आर्द्रा, दूर्वादल, विषाद, मौर्य-विजय, अनाथ, मृरामयी आदि प्रसिद्ध हैं। आप महाकवि मैथिलीशरण गुप्त के छोटे भाई हैं।

———

अनुरोध

जब इस तिमिरावृत मन्दिर में
उषाकाल कर उठे प्रवेश,
तब तुम हे मेरे हृदयेश!

इस दीपक की जीवन - ज्वाला
कर देना तुरन्त निःशेष;
यही प्रार्थना है सविशेष।

जब यह कार्य प्रपूर्ण कर चुके
देह होमने के उपरान्त;
स्वयं प्रकाशित हो यह प्रान्त;

पूर्ण प्रभा में कर निमग्न तब
कर देना प्रदीप यह शान्त;
देर न करना जीवन-कान्त!

———

घट

कुटिल कंकड़ों की कर्कश रज
मल मल कर सारे तन में
किस निर्मम निर्दय ने मुझ को
बाँधा है इस बन्धन में ?

फाँसी-सी है पड़ी गले में
नीचे गिरता जाता हूँ ;
बार बार इस अन्धकूप में
इधर उधर टकराता हूँ ।

ऊपर नीचे तम ही तम है
बन्धन है अवलम्ब यहाँ !
यह भी नहीं समझ में आता
गिर कर मैं जा रहा कहाँ !!

काँप रहा हूँ भय के मारे
हुआ जा रहा हूँ म्रियमाण ;
ऐसे दुखमय जीवन से हा !
किस प्रकार पाऊँ मैं त्राण ?

सभी तरह हूँ विवश, करूँ क्या
नहीं दीखता एक उपाय ;
यह क्या?–यह तो अगम नीर है ।
डूबा ! अब डूबा, मैं हाय !!

भगवन् ! हाय ! बचालो अब तो,
तुम्हें पुकारूँ मैं जब तक।
हुआ तुरन्त निमग्न नीर में
आर्तनाद करके तब तक।

अरे, कहाँ वह गई रिक्तता,
भय का भी अब पता नहीं;
गौरववान हुआ हूँ सहसा;
बना रहूँ तो क्यों न यही ?

पर मैं ऊपर चढ़ा जा रहा
उज्ज्वल-तर जीवन लेकर;
तुमसे उऋण नहीं हो सकता
यह नवजीवन भी देकर।

क्षणिक

क्षण भर ही सुन पाई मैंने
कोयल, यह तेरी कल कूक;
और न जानें किस बन को तू
कहाँ उड़ गई होकर मूक ?
यह क्षण-जिसके क्षुद्रपात्र में
निखिल सुधा भरदी तू ने—

यह क्षण-जिसकी क्षणभंगुरता
चिर जीवित कर दी तू ने—
महाकाल की खनि से निकला
अतुलित एक रत्न बन कर;
न-कुछ सीप में स्वाति-बिन्दु की
यह मुक्ता धर दी तू ने!

मेरे नीरव-निर्जन पथ को
मुखर-मंत्र मिल गया अचूक;
कम क्या, यदि सुन सका क्षणिक ही
कोइल, वह तेरी कल-कूक?
क्षण भर ही पासका वायु, मैं
तेरी मन्द-मधुर झकझोर,
और सुरभि ले वह अपनी तू
चली गई जाने जिस ओर,

यह क्षण—जिसके दोने में तू
सब मधु-रस निचोड़ लाई—
यह क्षण—जिसमें गत बसन्त को
फिर से यहाँ मोड़ लाई—
महाकाल के मस्तक पर है
मलयज चन्दन का टीका;

एक तान में सब रागों का
स्वर-संयोग जोड़ लाई !
मेरा ग्रीष्म-खिन्न यात्रा पथ
सरस-होगया हर्ष-विभोर
कम क्या, यदि पा सका क्षणिक ही
तेरी मन्द-मधुर झकझोर ?

बीच में

तेरी उच्च हेम-चूड़ा पर
अपना लक्ष प्रतिष्ठित कर,
हे गिरिवर, यह नूतन यात्री
चलता रहा आज दिन भर।

उस चूड़ा पर पहुँच कभी का
दिनकर उतर गया उस पार,
यहाँ श्रान्त हो बैठ गया यह
रख कर उर पर गुरुतम-भार।
विनतमुखी सन्ध्या चुपके से
आकर जगा गई यह दीप,
इस प्रदीप में और हो उठा
अन्धकार का प्रखर प्रसार।

एकाकी है यह नव-यात्री
इस उपत्यका में गिरिवर,
तेरी उच्च हेम चूड़ा पर
अपना लक्ष प्रतिष्ठित कर
तेरा मोहाकर्षण इसको
खींच कहाँ से है लाया,
हे चिर महिमान्वित, किस क्षण तू
इसके दृग पथ में आया?

प्रतिपल आश्वासन दे देकर
दिन भर तूने इसे छला;
तू जो निकट ज्ञात होता था
इतनी दूर यहां निकला!
मानों कुछ क्रीड़ा-पूर्वक ही
होकर भी तू प्रौढ़ प्रवीण,
इस शिशु को पीछे दौड़ाकर
आगे आगे स्वयं चला!

वार वार सोचा है इसने—
तुझको अब पाया, पाया!
तेरा मोहाकर्षण इसको
खींच यहाँ तक है लाया।

रात हो गई यहीं बीच में
पद-तल तक आते-आते ;
किसे ज्ञात, क्या होगा तेरी
वह चूड़ा पाते-पाते।

सुचिर-कुमारी की पावन-श्री
उसके मुखपर है मृदुतर ;
रहती है वह उच्च अट्ट पर,—
शत शत खण्डों के ऊपर,
उनकी वे सोपान-श्रेणियाँ
आँख मिचौनी सी करके,
चक्कर खाती हुई गई हैं
अनुधावक जन से छिपकर।

आया यह उस दुर्गमता की
गुण गरिमा गाते-गाते ;
रात हो गई यहीं बीच में
पद-तल तक आते-आते।
निद्रा ने आकर दुलार कर
इसे गोद में सुला लिया ;
निज अञ्चल-पट से मस्तक का
स्वेद पोंछ, श्रम भुला दिया।

धन्य पथिक !-यद्यपि सुस्थिर ही
दीख पड़ रहा है तन से,
पर पहाड़ पर स्वप्न लोक में
बिचर रहा है तू मन से।
कभी इधर तो कभी उधर हो
ऊपर चढ़ता जाता तू;
बढ़ता जाता छूट छूट कर
भूल-भ्रान्ति के बन्धन से।
इस यात्रा का यह विराम भी
तूने निष्फल नहीं किया,
निद्रा ने जब स्नेह-पान कर
तुझे गोद में सुला लिया।

× × ×

जागृत है, यात्री-जागृत है
सुप्रभात आह्लाद स्वरूप!
चमक उठी फिर गिरि-चूड़ा वह
अरुण हास में अतुल अनूप।
तो चलपड़ !-उस विफल दिवस का
बोझ हो गया है हलका;
आज चराचर के प्राणों में
जीवन है छलका-छलका!

यह दिन भी यदि गया मार्ग में
तो इसकी चिन्ता ही क्या ?
निशि हो निद्रा हो अभाव तो
कहीं नहीं शयनस्थल का।
तू नीचे होगा, पद-नीचे
होंगे विफल दिनों के स्तूप ;
चल, नित नया प्रकाश लायेगा
सुप्रभात आह्लाद - स्वरूप !

नव जीवन

अहा ! अचानक प्रबल वेग से
मुझ में नव-जीवन आया !
आया, हाँ आया आया !
तरल तरङ्गों में उठ इसने
तन को, मन को लहराया ,
लहराया , हाँ लहराया !
मुझ जैसे छोटे नाले में
जहां नीर का नाम न था
सदा नीर नद के रथ का रव
घर्घर-स्वर से है छाया ,
छाया, हाँ छाया छाया !

पोती दूर कहीं पावस ने
आतप के मुँह पर स्याही ;
उसकी प्रथम विजय-वार्त्ता यह
प्रथम यहाँ मैं ही लाया।
लाया हाँ, मैं ही लाया !

उछल उछल कर, छूट-छूट कर
उभय तटों की धारा से,
मुझ में आज असीम उठा है
ऐसा कुछ मैंने पाया।
पाया हाँ, पाया पाया !

प्रलय-रोग की एक कड़ी-सी
मेरे मुँह से फूट पड़ी ;
पागल होकर भैरव रस से
'हर हर हर' मैंने गाया।
गाया, हाँ गाया गाया !

जीवन की इस जल-क्रीड़ा में
कूद पड़ा मैं ऊपर से ;
मार्ग-प्रस्तरों से भिड़ मैंने
फेन-हास ही बरसाया।
बरसाया, हाँ बरसाया !

जब तक यह पानी है मुझ में,
और नाच लूँ मैं यों ही;
कल की कल के लिए आज तो
मुझ में नव-जीवन आया।
आया, हाँ आया आया!

———

मार्ग-बन्धु

बन्धु, मार्ग में चलते चलते
अकस्मात् तू मुझे मिला;
नव प्रभात के पुण्य-योग में
नव-प्रसून-सा खिला-खिला।

मृदु मारुत में था उछाह क्या
तेरी श्वास-सुरभि का ही?
गान गा उठा मर्मर स्वर में
चारु चपल वह मधु-ग्राही।
छीन लिया विहगों का कूजन
मेरे उर के भावों ने,
तेरी मधुर हँसी इस नभ ने
निज में भर लेनी चाही।

क्षण में ही तू पूर्ण अपरिचित
चिर परिचित की भाँति हिला;
बन्धु, मार्ग में चलते चलते
अकस्मात तू मुझे मिला।
काच-खण्ड होकर भी मुझ में
तेरा हेम योग आया;
तूने क्या पाया, तू जाने,
मैंने तो सब कुछ पाया!

इस पथ पर शत शत संख्यक जन
अविरत आते जाते हैं;
अपनी धुन में ही सब कोई
अपने पैर बढ़ाते हैं।
वह तू ही था बढ़कर जिसने
इस जन से नाता जोड़ा;
अन्य अरे अब अन्य कौन है
तुझ में सभी समाते हैं!

अब समझा विधि के घर से मैं
नहीं अकिंचनता लाया!
काच-खण्ड होकर भी मुझ में
तेरा हेम-योग आया!

यह पथ ऐसा है, पथ में ही
लय हो जाता है इसका,
विवश छोड़ना पड़ता उसको
पकड़ लिया है कर जिसका।

नहीं जानते हम इतना भी
कब तक साथ रहेंगे हम,
जैसे मिले, बिछुड़े वैसे ही
जाने कहाँ बहेंगे, हम!

शत - शत छोटी - मोटी गलियाँ
निकल पड़ी हैं इस पथ से,
जाने कौन निगल ले किसको
यह भी हाय! सहेंगे हम।

आज पी रहे हैं जो हम यह
घूँट अरे, वह है विष का;
यह पथ ऐसा है, पथ में ही
लय हो जाता है इसका।

बन्धु, व्यर्थ कल की चिन्ता यह
आज आज की ही हो बात;
है अदृश्य, मुँह छिपा स्वयं ही
आज किसी कल का उत्पात!

पथ की यह पहचान हमारी
सीमित न हो यहीं तक आज,
आगे - पीछे के ऊपर यह
नव गौरव से रही विराज।

किसी ओर तुम, किसी ओर हम
जावेंगे तब जावेंगे;
मिलन आज कल के बिछोह की
कर लें पूर्ति अभी निर्व्याज।

यह पथ, जहाँ मिले हम-तुम यों
किस गृह से कम है अवदात ?
बन्धु, आज जीवन की जय हो,
आज आज की ही हो बात !

———

श्रीमती महादेवी वर्मा एम. ए.

[जन्म संवत् १९६४]

श्रीमती वर्मा में अत्यन्त परिष्कृत रुचि का कोमल छायावाद प्रस्फुटित हुआ है। आपकी कविताओं की दो विशेषताएँ हैं—एक तो विश्व के अनन्त दुःख उद्गार तथा रहस्यमयी भावनाओं का चित्रण। आपकी रचनाओं में विश्व की करुण पीड़ा के प्रति तरस की वैराग्य भावना काम करती है, जो हृदय की कसक के साथ उद्भूत होकर व्याप्त हो जाती है। वह अभाव से नहीं किन्तु भाव, अस्तित्व के कशाघात से प्रताड़ित होकर पाठकों के हृदय में एक शाश्वतिक टीस उत्पन्न कर देती है। आपका प्रिय अलक्षित रहकर भी आपकी अनुभूति से विलास करके उन्हें बेचैन किये रहता है। जगत् के दुःख पारावार में सुख की अस्पष्ट अनुभूति कभी उनके पीड़ित प्राणों में अतिरंजना सी हो उठती है। ये उस प्रिय के स्वप्न आलोक में पहुँच कर भी दुःख को अपने पास ही रखती हैं। उससे अठखेलियाँ करती हैं, उसे अंक में रख कर उसका पोषण करती हैं। आप में प्रतीक विधायिनी प्रतिभा, जिसमें भावनाओं को मूर्तरूप दिया जा सकता है, अत्यन्त अधिक मात्रा में

है। दुःख तथा निराशा जितनी इनकी कविताओं में प्रकट हुई है उतनी और हिन्दी के किसी कवि में नहीं पाई जाती। आपकी रचनाओं पर अंग्रेजी की अलंकारिकता भाषा शैली और भावधारा का अधिक प्रभाव पड़ा है।

इनकी रचनाओं में रश्मि, नीहार तथा नीरजा प्रसिद्ध हैं। आजकल आप चाँद की सम्पादिका हैं। आपको ५००) का सेकसरिया पुरस्कार भी मिल चुका है।

गीत

पुलक पुलक उर, सिहर सिहर तन,
आज नयन आते क्यों भर भर ?

सकुच सलज खिलती शेफाली;
अलस मौलश्री डाली डाली;
बुनते नव प्रवाल कुञ्जों में;
रजत श्याम तारों से जाली;

शिथिल मधु-पवन गिन-गिन मधु कण,
हरसिंगार झरते हैं झर झर!
आज नयन आते क्यों भर भर!

पिक की मधुमय वंशी बोली;
नाच उठी सुन अलिनी भोली;
अरुण सलज पाटल बरसाता;
तम पर मृदु पराग की रोली;

मृदुल अंक धर, दर्पण सा सर ,
आज रही निशि दृग इन्दीवर !
आज नयन आते क्यों भर भर !

आँसू बन बन तारक आते ;
सुमन हृदय में सेज बिछाते ;
कम्पित वानीरों के बन भी ;
रह रह करुण विहाग सुनाते ;

निद्रा उन्मन, कर कर विचरण ,
लौट रही सपने संचित कर !
आज नयन आते क्यों भर भर !

जीवन जल-कण से निर्मित सा ;
चाह इन्द्रधनु से चित्रित सा ;
सजल मेघ सा धूमिल है जग ;
चिर नूतन सकरुण पुलकित सा ;

तुम विद्युत् बन, आओ पाहुन !
मेरी पलकों में पग धर धर !
आज नयन आते क्यों भर भर !

———

कौन तुम मेरे हृदय में ?

कौन मेरी कसक में नित
मधुरता भरता अलक्षित ?
कौन प्यासे लोचनों में
घुमड़ घिर झरता अपरिचित ?
स्वर्ण स्वप्नों का चितेरा
नींद के सूने निलय में !
कौन तुम मेरे हृदय में ?

अनुसरण निश्वास मेरे
कर रहे किसका निरन्तर ?
चूमने पदचिह्न किसके
लौटते यह श्वास फिर फिर ?

कौन बन्दी कर मुझे अब
बंध गया अपनी विजय में ?
कौन तुम मेरे हृदय में ?

एक करुण अभाव में चिर—
तृप्ति का संसार संचित ;
एक लघु क्षण दे रहा
निर्वाण के वरदान शत शत ;

पा लिया मैंने किसे इस
वेदना के मधुर क्रय में
कौन तुम मेरे हृदय में ?

गूंजता उर में न जाने
दूर के संगीत सा क्या !
आज खो यह निज मुझे
खोया मिला, विपरीत सा क्या !
क्या नहा आई विरह - निशि
मिलनमधु-दिन के उदय में ?
कौन तुम मेरे हृदय में ?

तिमिर पारावार में
आलोक प्रतिमा है अकम्पित ;
आज ज्वाला से बरसता
क्यों मधुर घनसार सुरभित ?
सुन रही हूँ एक ही
झंकार—जीवन में, प्रलय में ?
कौन तुम मेरे हृदय में

मूक सुख दुख कर रहे
मेरा नया शृंगार सा क्या ?
झूम गर्वित स्वर्ग देता—

नत धरा को प्यार सा क्या
आज पुलकित सृष्टि क्या
करने चली अभिसार लय में ?
कौन तुम मेरे हृदय में ?

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी, रागिनी भी हूँ !
नींद थी मेरी अचल निस्पन्द कण कण में ;
प्रथम जागृति की जगत के प्रथम स्पन्दन में ;
प्रलय में मेरा पता पदचिह्न जीवन में ;
शाप हूँ जो बन गया वरदान बन्धन में ;
कूल भी हूँ कूलहीन प्रवाहिनी भी हूँ !

नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ ;
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ ;
फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूँ ;
एक होकर दूर तन से छाँह वह चल हूँ ;
दूर तुम से हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ !

आग हूँ जिसके ढुलकते बिन्दु हिमजल के ;
शून्य हूँ जिसको बिछे हैं पाँवड़े पल के ;
पुलक हूँ वह जो पला है कठिन प्रस्तर में ;

हूँ वही प्रतिबिम्ब जो आधार के उर में;
नील घन भी हूँ सुनहली दामिनी भी हूँ!

नाश भी हूँ मैं, अनन्त विकास का क्रम भी;
त्याग का दिन भी, चरम आसक्ति का तम भी;
तार भी, आघात भी, झंकार की गति भी;
पात्र भी, मधु भी, मधुप भी, मधुर विस्मृति भी;
अधर भी हूँ और स्मित की चाँदनी भी हूँ!

———

तुम मुझ में प्रिय! फिर परिचय क्या!
तारक में छवि प्राणों में स्मृति;
पलकों में नीरव पद की गति;
लघु उर में पुलकों की संसृति;
भर लाई हूँ तेरी चंचल
और करूँ जग में संचय क्या!

तेरा मुख सहास अरुणोदय;
परछाईं रजनी विषादमय,
यह जागृति वह नींद स्वप्नमय;
खेल खेल थक थक सोने दो
मैं समझूँगी सृष्टि प्रलय क्या!

रोम रोम में नन्दन पुलकित ;
साँस साँस में जीवन शत शत ;
स्वप्न स्वप्न में विश्व अपरिचित ;
मुझ में नित बनते मिटते प्रिय !
स्वर्ग मुझे क्या; निष्क्रिय लय क्या?

हारूँ तो खोऊँ अपनापन ;
पाऊँ प्रियतम में निर्वासन ;
जो न बनूँ तेरा ही बन्धन ;
भर लाऊँ सीपी में सागर
प्रिय ! मेरी अब हार विजय क्या ?

———

मधुर मधुर मेरे दीपक प्रतिपल ;
युग युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल ;
प्रियतम का पथ आलोकित कर !
सौरभ फैला विपुल धूप बन ;
मृदुल मोम सा घुल रे मृदु तन ;
दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित ,
तेरे जीवन का अणु गल गल !
पुलक पुलक मेरे दीपक जल !
सारे शीतल कोमल नूतन ,
माँग रहे मुझ से ज्वाला-कण ;

विश्वशलभ सिर धुन कहता 'मैं
हाय न जल पाया तुझ में मिल'!
सिहर सिहर मेरे दीपक जल!

जलते नभ में देख असंख्यक;
स्नेह-हीन नित कितने दीपक;

जलमय सागर का उर जलता;
विद्युत् ले घिरता है बादल!
विहँस विहँस मेरे दीपक जल!

द्रुम के अङ्ग हरित कोमलतम,
ज्वाला को करते हृदयङ्गम;

वसुधा के जड़ अन्तर में भी,
बन्दी है तोपों का हल चल!
बिखर बिखर मेरे दीपक जल!

मेरी निश्वासों से द्रुततर,
सुभग न तू बुझने को भर कर;
मैं अञ्चल की ओट किए हूँ,
अपनी मृदु पलकों से चञ्चल!
सहज सहज मेरे दीपक जल!

सीमा ही लघुता का बन्धन,
है अनादि तू मत घड़ियाँ गिन;
मैं दृग के अक्षय कोषों से—
तुझ में भरती हूँ आँसू-जल!
सजल सजल मेरे दीपक जल!

तम असीम तेरा प्रकाश चिर;
खेलेंगे नव खेल निरन्तर;
तम के अणु अणु में विद्युत् सा—
अमिट चित्र अंकित करता चल!
सरल सरल मेरे दीपक जल!

तू जल जल जितना होता क्षय;
वह समीप आता छलनामय;
मधुर मिलन में मिट जाना तू—
उसकी उज्ज्वल स्मिति में घुल मिल!
मदिर मदिर मेरे दीपक जल!
प्रियतम का पथ आलोकित कर!

श्रीभगवतीचरण वर्मा बी. ए. एलएल बी.

[जन्म संवत् १९५४]

वर्मा जी स्पष्ट रहस्यवाद तथा छायावाद के समन्वय हैं। इनकी कविताओं में प्रेम का उत्कट प्रवाह बहता है। ये जीवन के अन्तरंग में पैठ कर प्रेम ढूँढते हैं। इतनी कविताओं पर उर्दू के सूफ़ी सम्प्रदाय का अधिक प्रभाव है, अंग्रेजी की भी काफ़ी विचार धारा है। कविता इनकी प्रेमिका है, जिससे बातचीत करके जीवन के उलझे क्षणों में आनन्द का आभास पाते हैं। इनकी निराशा प्रेमान्त है। क्षणिक विकार की छाया से ऊपर उठकर एक अलक्षित प्रेम में मग्न हो जाने की भावना इनकी कविता का उद्देश्य है। आप बड़े अलमस्त कवि हैं और गायक हैं। इन्हें दुखी को दुख में डुबा कर, तड़पते हुए को तड़पा कर, रोते को रुलाने में आनन्द आता है। इन्हें दुख में सुख की अनुभूति होती है जो पीड़ामय और मीठी मालूम देती है। आप कहानी और उपन्यास भी लिखते हैं। इनकी कहानियों में भी कविता की तरह एक कसक, एक जलन, एक सुख दुख का समन्वय सा पाया जाता है। इनकी रचनाओं में मधुकण, इंस्टालमेण्ट, चित्रलेखा आदि प्रसिद्ध कृतियाँ है।

मधुकण

ऐ रजकण के ढेर, विचित्र तुम्हारा है इतिहास!
तुम मनुष्य की उन अभिलाषाओं के हो उपहास—
कि जिनका असफलता है अन्त—
और आशा जीवन!
बना अज्ञान खण्डन ही यह लो आज तुम्हारा सदन—
कभी उत्थान, कभी है पतन!

वासनाओं का यह संसार
भयानक भ्रम का है बंधन;
और इच्छाओं का मण्डल—
आदि से अन्त रुदन है रुदन;
एक अनियंत्रित हाहाकार—
इसी को कहते हैं जीवन!

———

नूरजहाँ की कब्र पर

(१)

तुम रज कण के ढेर, उलूकों के तुम भग्न विहार !
किस आशा से देख रहे हो उस नभ पर प्रति बार
कि जिस से टकराता था कभी
तुम्हारा उन्नत भाल ?
सुनते हैं, तुमने भी देखा था वैभव का काल
धूल में मिले हुए कंकाल !

तुम्हारे संकेतों के साथ
नाचता था साम्राज्य विशाल ;
तुम्हारा क्रोध और उल्लास
बिगड़ते बनते थे भूपाल ,
किन्तु है आज कहानी शेष
प्रबल है प्रबल काल की चाल ।

(२)

एक समय पर्वत-मालाओं की प्रतिध्वनि के साथ ,
तुम रोईं थीं प्रथम नमा कर उस भू पर निज माथ .
जिस पर था सगर्व आरूढ़—
तुम्हारा गुरुतर भार !

जीवन के पहले ही क्षण में वह जीवन की हार
पतन ही है जीवन का सार !

तुम्हारा प्यारा शैशव काल
स्वर्ग की सुषुमा का आगार
ज्ञान के धुँधलेपन से शून्य
किलकने हँसने के दिन चार
भाग्य की देवि ! भाग्य का तुम्हें
वही तो था सारा उपहार !

(३)

देखे थे सुख-मयी कल्पना के शत शत प्रासाद ;
पुलकित नयनों से देखा था तुमने वह आह्लाद ।
कि जिसको फिर पाने के लिए—
रहीं रोतीं दिन रात !
क्षणिक प्रभा थी, था भविष्य का अन्धकार अज्ञात ,
आह बचपन के सुखद प्रभात !

दूसरों के हँसने के साथ
पुलक उठता था सारा गात ;
छलकता था नयनों में नीर
किसी पर यदि होता आघात ;
वासना तृष्णा ईर्ष्या डाह
कहो, क्या थे पहले भी ज्ञात ?

(४)

लाड़ प्यार में तुम बढ़ती थीं–कहाँ ? किधर ? किस ओर
अरे विश्व के उस वैभव का मिला न ओर न छोर
कि जिसके एक अंश तक की
न ले पायीं तुम थाह !
बहता है संसार, वासना का है तीव्र प्रवाह,
देवि यह जीवन ही है चाह !

तुम्हारे आशा के सुख - स्वप्न ,
तुम्हारे वे उमंग उत्साह ,
तुम्हारी मधुर मन्द मुसकान ,
तुम्हारे भोले भाव अथाह ,
हो गए क्षण भर में ही लोप
हँसी बन गई पलक में आह !

(५)

आह भाग्य से हुईं तुम्हारी उस दिन आँखें चार ,
जिस दिन था देखा सलीम ने वह अपना संसार
कि जिस अज्ञात खण्ड में उसे
शान्ति थी अथवा भ्रान्ति ?
अनायास तुम काँप उठी थीं, थी वह प्रथम अशान्ति
देवि, यह जीवन ही है क्रान्ति !

दास हो अथवा हो सम्राट
विश्व भर की स्वामिनि है भ्रान्ति,
परिस्थितियों का है यह चक्र
जिसे हम सब कहते हैं क्रान्ति,
भाग्य की देवि ! भाग्य की भेंट
सदा से है जीवन की शान्ति !

(६)

तृष्णा ! तृष्णा ! आह रक्त से रंजित तेरे हाथ !
विश्व खेलता है पागल सा उन पापों के साथ
कि जिनके पीछे ही है लगा
विषम रौरव का जाल !
मिटा भाग्य-सिन्दूर तुम्हारा, रिक्त हो गया भाल,
प्रेम ही बना प्रेम का काल !

आह अनजान शेरअफ़गान !
तुम्हारा सुख-साम्राज्य विशाल—
कौन सा था वह गुरु अपराध ?
—नष्ट हो समा गया पाताल !
प्रेम का था कैसा उपहार ?
मृत्यु बन गयी गले की माल !

(७)

तुम रोईं थीं भाग्य हसाँ था, था अद्भुत व्यवहार !
आह शेरअफ़ग़ान गूँजी थी वह सकरुण चीत्कार
कि जिससे हृदय-रक्त मिल कर
बना नयनों का नीर ।
तुम समझी थीं रुक न सकेगी यह सरिता गम्भीर,
किन्तु है निर्बल हृदय अधीर !

आह, वह पति घातक का प्यार !
वासना का उन्माद गंभीर !
कसक का भी होता है अन्त,
क्षणिक है सदा वेदना पीर,
कठिन है कठिन आत्म बलिदान
कठिन हैं ये मनसिज के तीर !

(८)

एक परिधि है उद्गारों की, परिमित है परिताप
मिट जाती है हृदय-पटल से वह स्मृति-छाया आप
कि जिसका पाँच वर्ष तक देवि,
किया तुमने सन्मान ।
उस अशान्ति हलचल को करने को अन्तर्ध्यान
किया आकांक्षा का आह्वान !

बनीं उस दिन साम्राज्ञी और
हुआ तुमको तृष्णा का ज्ञान ;
आह ! वह आत्म-समर्पण, हार !
उसी दिन लोप हो गया मान !
उसी दिन तुमने पल में दिया
पतन-रूपी मदिरा का पान !

(८)

"और! और!" की ध्वनि प्रतिध्वनि है "और ! और ! कुछ और!"
तृप्ति असम्भव है, चलने दो उन प्यालों के दौर
कि जिनके पीने ही के साथ
धधक उठती है प्यास !
झुक झुक पड़ते हैं पागल से, आह क्षणिक उल्लास—
आत्म-विस्मृति का यह उपहास !

महत्वाकांक्षा ! उफ़ उन्माद !
हुआ जिसको तेरा आभास ,
उठा ऊँचे बन कर उत्साह ,
गिरा नीचे बनकर निःश्वास
पराजय की सीढ़ी है विजय
अरे भ्रम है, भ्रम है विश्वास

(९)

धरा धसकती थी, असह्य था देवि ! तुम्हारा भार;
उन कोमल चरणों के नीचे था समस्त संसार
कि जिन में चुभते थे तत्काल
फूल भी बन कर शूल
साम्राज्ञी थीं, किन्तु दैव था क्या तुम पर अनुकूल ?
यही तो थी जीवन की भूल !

शक्ति की स्वामिनि ! भोग विलास
सदा है सुख वैभव का मूल,
किन्तु खुल गई अचानक आँख
प्रकृति ही है इसके प्रतिकूल;
आज कल ! आह क्षणिक ऐश्वर्य !
हुए सुख - स्वप्न सभी निर्मूल।

(१०)

उच्च शिखर था आकांक्षा का, नीचे था अज्ञात !
खेल रहा था वहाँ परिस्थिति का वह झंझावात
कि जिसके चक्कर में पड़ कर
विजय बन जाती व्यङ्ग !
तुम्हें गर्व था उस यौवन पर, था अनुकूल अनङ्ग;
आह दीपक पर मुग्ध पतङ्ग !

अचानक पल भर में ही देवि,
लोप हो गया सकल रस-रङ्ग;
झुक गया माथ, गिर पड़ा मुकुट
व्यर्थ हो गया भृकुटि सारङ्ग;
गिराया जहाँगीर का किन्तु
गिरीं तुम भी तो उसके सङ्ग

(११)

"गिर सकती हो!" क्या इसका भी था तुम को अनुमान!
एक कल्पना की छाया है यह सारा अभिमान
कि जिस से प्रेरित होकर देवि,
बनीं तुम निपट निःशङ्क!
उठते गिरते ही रहते हैं राजा हों या रङ्क!
अमिट हैं ये विधना के अङ्क!

अरे दो ही हिचकी की बात—
हृदय में समा गया आतङ्क;
रुक गई जहाँगीर की श्वास,
झुक गई मद की चितवन बङ्क;
बना जीवन जीवन का भार,
और जीवन ही बना कलङ्क!

(१२)

जो कि सिहर उठते थे भय से देख चढ़े भ्रूचाप,
उनकी ही आँखों में देखा तुमने वह अभिशाप
कि जिसके व्यङ्ग हृदय में हाय
चुभ गए बन कर तीर!
बदला ही तो था, बदला है देवि सदा बे पीर!
आग में कब होता है नीर?

अरी साम्राज्ञी वह साम्राज्य
मिट गया बन कर उष्ण समीर,
और उच्छृङ्खल ऊँचा भाल
झुका नीचे बन कर गम्भीर;
नाश की स्वामिनि! तुम बन गई
नाश के लिए नितान्त अधीर!

श्री गुलाबरत्न वाजपेयी 'गुलाब'

(जन्म सं—१९५८)

शोक है कि कविवर गुलाब ने थोड़े दिन ही कविता क्षेत्र में प्रवेश करके कविता करना बन्द कर दिया। आपने जो कुछ थोड़े से काल में लिखा वही आपके नाम को अमर करने के लिए पर्याप्त है। इनकी कविताएं बड़ी जोशीली एक तूफ़ान सा लेकर निकलती थीं। सौन्दर्य के अतिरिक्त प्रकृति का भयंकर रूप आपकी कविताओं में पाया जाता है। प्रकृति के दो रूप प्रसिद्ध हैं। उसकी कोमल भावना को प्रायः सभी कवि देखा करते हैं, परन्तु उसके दूसरे रूप से संसार का कितना कल्याण होता है इस बात को साधारण लोग कम जानते हैं। इसी भावना को लेकर श्री गुलाब ने अपनी रचना का क्षेत्र बनाया है। आपकी कविताओं में प्रकृति की भीषणता भरी हुई है। एक तरह से आप कवि नवीन जी के ढंग पर चले हैं। जिसमें उन्हें काफ़ी सफलता मिली है। आपने चित्रकाव्य, कर्मरेखा, मल्लिका, स्फुटकाव्य का विराट संग्रह, लतिका आदि पुस्तकें लिखी हैं।

———

मैं क्या हूं ?

(१)

मैं हूँ न देव, दानव, दिवेश, किन्नर, गन्धर्व, अमर, अनंग।
मैं दीप-शिखा हूँ मंद-मंद, जिसमें जलते अगणित पतंग।
मैं वह भय हूँ जिसको विलोक-
कांपती धरा, भरता निर्भय, कर लेता बंद नयन त्रिलोक।

(२)

मैं वह रण हूँ, जिसमें अनेक नाचते प्रेत कर अट्टहास;
मैं चन्द्रहास की धार, मृत्यु, मैं हूँ तृष्णा की प्रबल प्यास।
मैं हूँ पतंग मद-पूर्ण चाल;
मैं सावधान, मैं इन्द्र-वज्र, मैं ज़हर उगलता हुआ व्याल।

(३)

मैं हूँ भीषण एकांत-वास, मैं वड़वानल, मैं हूँ अनन्त;
मैं भुवन-भास्कर, विश्व-शत्रु, मैं हूँ निदाघ, मैं हूँ दिगन्त।
मैं वन-तरुवर-दल अथ बबूल;
मैं शिवलोचन, उन्माद-नाद, मैं रण-ताण्डव, मैं हर त्रिशूल।

(४)

मैं गुप्त-गुफा, मैं कटक वन, मैं प्रबल वह्नि, द्रुत-गति समीर,
मैं हूँ न अमृत, मैं कालकूट, मैं हूँ विधवा की छिपी पीर।
मैं हूँ धवलागिरि शिखर एक,
मैं पद्माकर, केशव न कभी, भूषण-कविता की एक टेक।

(५)

मैं वीर शिवा जी का बल हूँ, मैं छत्रसाल की हूँ नस-नस;
मैं रुद्राणी का रौद्र कोप, मैं कमलासन का एक दिवस।
मैं यम हूँ, मैं केतकी पत्र;
मैं श्मशान की ज्वलित चिता, मैं विष्णु-चक्र मैं अटल छत्र।

(६)

मैं भक्त भगीरथ का उपास्य, मैं अरि-मर्दन, मैं हूँ विरोध;
मैं हूँ विभूति, मैं हूँ विलाप, मैं दुर्वासा का तेज क्रोध।
सीता सुहाग, मैं प्रलय-गीत;
मैं दमयन्ती की तीव्र दृष्टि, मैं सावित्री हठ, मैं अतीत।

(७)

मंथरा-चाल, केकयी-द्वेष, मैं श्रवण-पिता-कृत प्रबल शाप;
मैं हूँ दशरथ की व्यथा मौन, मैं रामचन्द्र का विपिन वास।
मैं अंगद पद हूँ अटल-अचल;
मैं मेघनाद की कठिन शक्ति, मैं हूँ लक्ष्मण-स्वभाव चंचल।

(८)

मैं हूँ पाँडव-दल-बल संचित, मैं हूँ पांचाली का दुकूल ;
मैं दुर्योधन-अंतस्तल का हूँ एक भयंकर गुप्त शूल।
मैं भीष्मवीर का प्रण कठोर ;
मैं हूँ खौलता हुआ शोणित, मैं कवि-मानस सागर हिलोर।

(९)

मैं हूँ छोटा-सा एक मंत्र, मैं कामदेव का अंध राग ;
मैं शक्ति देवि का हूँ इंगित, मैं बौद्ध-धर्म, मैं हूँ विराग।
मैं हूँ सागर, मैं प्रबल ज्वार ;
मैं हूँ निशीथ अभिसार अभय, मैं हूँ अमूल्य, मैं अलंकार।

(१०)

मैं रक्तांजलि, मैं हूँ अटूट, मैं हूँ अदभ्र-विभ्राट ठाट ;
मैं अद्वितीय, मैं हूँ अगाध, मैं हूँ अनन्य, अनुभव विराट।
मैं हूँ उल्का, मैं उष्ण-देश ;
मैं नर-कंकाल, अजान कटक, मैं काल-रात्रि, मैं काल-वेष।

(११)

मैं हूँ बादल-दल कृष्ण-वर्ण, मैं हूँ गर्जन-तर्जन, विकार ;
मैं हूँ तुषारमय एक भोर, मैं हूँ न मूर्ख, सघनान्धकार।
मैं हूँ चातक के लिये उपल ;
मैं चपल कड़कती चल बिजली, मैं सर्वनाश, मैं हूँ पागल।

(१२)

मैं हूँ जापानी भूकम्प नव्य, मैं हूँ प्रचण्ड आघात-घात ;
मैं हूँ नन्हीं-सी नदी नहीं, मैं हूँ नियागरा का प्रताप।
मैं तप्त ज्येष्ठ, बीभत्स छोर ;
मैं ऊबड़ खाबड़ पथ उजाड़, पथिकों के प्रति मैं प्रकट चोर।

(१३)

मैं हूँ दरिद्र-दुख-गर्भ अश्रु, मैं प्रतिहिंसा-प्रण, प्रलय-नाद ;
मैं क्रूर केसरी अभय मत्त, मैं हूँ नटखट, मैं हूँ फ़साद।
मैं हूँ न सरल साहित्य-जोश ;
मैं महाकठिन, मैं महाजटिल, मैं महाशब्द, संसार-कोष।

(१४)

मैं रक्त-कुण्ड, मैं धुआँधार, मैं ऋषि-मुनियों का सफल होम ;
मैं हूँ विप्लव, मैं व्याधि-व्यूह, मैं हूँ रोमांचित रोम रोम।
मैं हूँ नवीन आदर्श-हर्ष ;
मैं हूँ विरही कांपता एक, मैं हूँ भविष्य भीषण विमर्श।

महाकाल

आज प्रलय की महारात्रि में,
गौरव के घमंड में चूर;
कड़क कड़क कड़-कड़ बिजली-सा,
ओ प्रचण्ड विद्रोही-क्रूर !

लेकर लाल मशाल चिता की,
किसी क्रोध का बनकर शाप ?
किसे खोजता है विप्लव-सा,
रणचण्डी रण में चुपचाप ?

नग्न कृपाणों पर चमका कर,
सूर्य - विजय उन्माद - प्रताप;
सेनापति के रौद्र वेष में,
दौड़ - दौड़ प्रलयंकर - पाप !

पटक - पटककर विस्फोटक बम,
दुष्ट ग्राम के ग्राम उजाड़;
रक्त धूम आँखें कर क्रोधी !
खेल रहा कैसे खिलवाड़ ?

दाँत पीस दुर्भिक्ष देश में,
प्लेग महामारी के साथ ;
थर्रा कर मेदिनी विकट तू,
हिला जटिल जीवन - आकाश !

आशा की सुकुमार लता पर,
तू तुषार के पत्थर डाल ;
पढ़ता है किस अंत - शक्ति का,
मंत्र मौन - खूनी चण्डाल !

फैलाकर विद्रोह जटाएँ,
नाच-नाच कर नंग धड़ंग;
झलका रक्त-त्रिपुण्ड भाल पर,
कोटि-कोटि फन काढ़ भुजंग।
झंझाहत-सागर-तरंग-सा,
उमड़-उमड़ कर चारों ओर;
चुनता है क्यों प्राण जवाहिर,
चुपके चुपके चलकर चोर।
बीस कोटि का काढ़ कलेजा,
श्रद्धानंद-व्रती को मार;
ले प्रचंड यम-दण्ड हाथ में,
पाप-पिशाचों को ललकार।
लील लहू की लतपथ लाश,
गिन कनिष्ठिका पर दिन-मास;
अरे भयंकर! खींच रहा है,
किस हिंसा की भीषण साँस?

———

श्री उदयशंकर भट्ट

[जन्म सम्वत् १६५५]

श्री भट्टजी वेदना प्रधान अनुभूतिवादी कवि हैं। आपकी प्राय: सभी रचनाओं में एक उलझी हुई पीड़ा और गहरी मनोऽनुभूति मिलती है । ये विश्व में सत्य की अपेक्षा असत्य, गुणों की अपेक्षा दुर्गणों की अधिकता देखकर एक व्यथा सी अनुभव किया करते हैं। इनकी कविताओं से ऐसा झलकता है कि सतयुग में भी केवल सत्य ही न रहा होगा । ये एक ऐसे विश्व की धुन में हैं जहाँ न यह सूर्य हो और न यह चन्द्रमा, न ये तारे हों और न यह बादल। 'उस ओर' नामक कविता में यही भावना पाई जाती है। प्रपंच में मिथ्यात्व, संकेत में अस्पष्टता की ओर इनका लक्ष्य रहता है। एक तरह से इनमें कबीर का रहस्यवाद भी प्रतिध्वनित होता है। इनकी यह शैली अपनी ही है जो वर्तमान हिन्दी के किसी कवि में नहीं पाई जाती। इनकी कविताओं में गम्भीरता के साथ सौन्दर्य भी अतिशय मात्रा में रहता है। इन्होंने व्रज-भाषा में भी अधिकार पूर्ण रचना की है। आप गद्य लेख भी लिखते हैं। 'तक्षशिला' इनका सुन्दर काव्य है, जिसका हिन्दी जगत् में अच्छा आदर हुआ है। आपकी रचनाओं में तक्षशिला, दाहर, विक्रमादित्य, अम्बा, राका, कृष्णचन्द्रिका आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। आपको पञ्जाब सरकार से दो बार पुरस्कार भी मिल चुका है।

उन्मुक्त

सुखद घन की बूँद हूँ उन्मुक्त था उल्लास मेरा।
पूर्ण शशि का किरण में था छिटकता मृदुहास मेरा॥

कुसुम के परिहास में थी खिल रही अभिलाष बाँकी।
झर रहे निर्झर झरों में, 'फुहर' से उठ साँस झाँकी॥
हाय, मन्दाकिनी सा मैं बह रहा हूँ आज नीचे!
भव उदधि में मधुरिमा खारी हुई आँख मीचे॥

काल की चंचल परिधि से दूर था सुख राग मेरा।
आज जीवन-मृत्यु की अशिथिल कड़ी में भाग हेरा॥

विश्व था उलझी कहानी सा न जिसका छोर पाया।
राग था जिस में न लय थी स्वर न था रव घोर छाया॥
आज मैं भी हूँ पहेली है न जिसका आदि कोई।
सुबह आकर शाम को जाना इसी में शक्त सोई॥

कौन आकर बाँध चित्रित कर रहा निश्वास मेरा।
सुखद घन की बूँद में उन्मुक्त था उल्लास मेरा॥

काल की कड़ियाँ हमारे हृदय पर नित तान देतीं।
छेद शतशत युत असित पट रात आ परिधान देती॥
प्रात केवल प्रेम स्वर भर नित जगाता और रोता।
"दिन यहाँ किसके सुखी हैं" स्वयं जल रवि शीत होता॥

शिथिल हों बन्धन कहीं हो दूर तारों में बसेरा।
सुखद घन की बूँद हूँ उन्मुक्त था उल्लास मेरा॥

कमल जल की सतह से उठ चाहता आकाश छूना।
किन्तु हिम का वज्र गिर करता हृदय का हास सूना॥
भेजता हूँ खबर लेने नित्य अपनी आह ऊपर।
लौट आती हैं समा जाती मुझी में फैस भूपर॥

———
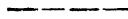
अवसान से पूर्व

जो चमका करते हैं छिप छिप वे मेरे अरमान बने हैं।
जो रोते ही रहे सदा वे हँसने का सामान बने हैं॥
जिन्हें आँख ने छिपा लिया था वे जग में विख्यात बने हैं।
और गिरे जो आँसू बन बन वे सब मेरी बात बने हैं॥
इस दुनिया ने कब जीवन को प्रिय जीवन कहकर अपनाया?
कौन प्यार बन दर्द न आया यहाँ दर्द ने किसे हँसाया?
मैं भी क्या इस टूटे दिल को अपना दिल कहकर समझाऊँ!
और भाग्य की रेखाओं को शुभ्र रश्मि सी कह अपनाऊँ॥

यहाँ टूट जाते हैं प्याले ओठों को छूने से पहले।
यहाँ खिला जाती अभिलाषा अपने को खोने से पहले॥
यहाँ बरसने से पहले ही जल उठते हैं पानी के घन।
यहाँ दान करने से पहले आँसू बन गिर जाता है मन॥
यहाँ पंख उगने से पहले पक्षी किसी ओर उड़ जाते।
यहाँ अँगारे बने हुए मन पानी से पहले बुझ जाते॥
कहाँ और किसने देखी है नाव डूबती हुई किनारे।
अरे ! डूबती हुई निशा में देख पड़े हैं यहीं सितारे॥
अच्छा लगे, वही तुम ले लो, किन्तु मुझे कुछ भी न मिला है।
यहाँ प्रेम में जलन भरी है, यहाँ प्रेम का नाम गिला है॥

———

मेघ-गीत

आ गए घन मोतियों का हार ले,

नील नभ के हृदय में सब प्यास सावन की लिए वे,
जलन अपनी को बुझाने अश्रु से तर दिल किए वे;
किसी क्रन्दन के स्वरों से मूर्च्छनाएँ राग की भर।
आग सी भर कर हृदय में स्वकर मुक्ता-दल लिए वे,
आह भर-भर गिर रहे हैं किसी प्रिय का प्यार ले !
आ गए घन आँसुओं का हार ले ॥१॥

सदा आँसू बन बहा दिल प्रेम पन्था में चले जो,
प्यार उनका जल उठा सब किसी रवि-मणि से मिले जो,
सदा अपनापन भुला चिनगारियों से उड़ रहे वे;
सदा सिरहाने खड़े पतझड़ हँसे उस पथ चले जो,
और जीवन में पराजित गर्जना-संसार ले!
आगए घन आँसुओं का हार ले॥ २॥

रात अपनी आग की चिनगारियाँ लाई बुझाने,
और पहलू में उफ़नती साँस की मृदु तह ठिकाने,
यह उसी की साध पानी हो गगन के अंक फैली,
रे, उसी की साध में कुछ शेष जीवन-क्षण सुलाने
क्षणिक जीवन में अचानक द्वन्द्व पारावार ले
आगए घन मोतियों का हार ले॥ ३॥

विदा

(१)

सोजाने को जगता है,
मेरा जीवन मतवाला।
ख़ाली कर देने को ही,
साक़ी भर देती प्याला।

खिलते हैं मुरझाने को,
दो दिन के जग पर हँसकर।
लुटते थे फूल लुटा सब,
अपने दुलार पृथ्वी पर।

(२)

मेरे अलमस्त रुदन पर,
आँसू मोती बन जाते।
दो सीपों में ढल ढल कर,
जग में रोना बिखराते।

अरमानों की नौका पर,
हम जाने को हैं आये।
वरदान बुलाने पहुँचे,
अभिशाप छोड़ने आये।

(३)

रोकर इस हँसते जग का,
आते दुलार था पाया।
मेरे हँसकर जाते ही,
रोने को रोना आया।

जी-भर कर देख लिया,
सब दोपहरी यहीं बिताई।
संध्या ले चली चले हैं,
ऊषा लेकर थी आई।

उस ओर

मैं क्या बतलाऊँ कहाँ वास
अति दूर क्षितिज से दूर दूर
अनुमान दौड़ थक हुए चूर,
नक्षत्रों के ढीले सरूर,
होते समाप्त जग के ग़रूर,
रहती जग की जगमग निराश।
उस ओर इधर मेरा निवास।

मानस कमलों से उस अजान,
सौरभ अमन्द भर भर उड़ान,
सौन्दर्य-प्रेम के अमल गान,
गूँजा करते जिस नभ-महान,
जग की आंखों में बन विहान,
हे अमर रश्मियों का प्रकाश,
रहता हूँ उसके आस पास।

स्वर्णादियों के कण लिये वात,
कुसुमित केशर की भर परात,
झरनों से बहती जहां प्रात,
अयि सजनी, वहां सन्ध्या न रात!!
सब स्वर्ग जहाँ करते विलास,
उस आँगन में मेरा निवास।

अनवद्य कल्पनाएँ उभार,
कलि किंजल्कों से बिंध उदार,
रवि किरण गूँथती बार बार,
मृदु मंजु कला के कण्ठहार,
इस पार नहीं उस विश्व पार,
उड़ते न मर्त्य रवि समुच्छ्वास,
उस ओर उधर मेरा निवास।

———

श्री रामकुमार वर्मा एम० ए०

(जन्म सं० १६६२)

वर्मा जी अस्पष्ट वेदना वादी कवि हैं । इनकी कविताओं में निराशा का पूर्ण स्वास्थ्य झलकता है। ये जन्म में मृत्यु, वसन्त में ग्रीष्म, उषा में सन्ध्या को कल्पना किया करते हैं । इनकी भावधारा सदा ही अस्पष्टता की ओर बहती रहती है। इन में कल्पना अधिक और अनुभूति कम है। भावों के उतार चढ़ाव में निराशा, सुख में दुख की कल्पना इनकी कविता का प्रधान लक्ष्य है। हम सदा ही देखते हैं कि मनुष्य जन्म के प्रातःकाल से मृत्यु की सन्ध्या की ओर जाता है परन्तु एकदम नहीं । उसका जीवन-घट पलों-क्षणों की बूंद-बूंद से भर कर अस्तोन्मुख होता रहता है। इस विनाश की चिन्ता में कवि कल्पना निरन्तर बढ़ती जाती है। सौन्दर्य क्षणिक है और विनाश अचल।

आप इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हिन्दी के अध्यापक हैं । पिछले वर्ष आपको चित्ररेखा पर दो हजार का देव पुरस्कार भी मिला था । आपने कबीर का रहस्यवाद, निशीथ, रूपराशि, चित्ररेखा आदि पुस्तकों की रचना की है।

तारों के प्रति

सजीले नभ के राजकुमार

सूक्ष्म रश्मियों की बूँदों का यह शैशव आकार
नभ के विस्तृत जीवन में आशाओं का अवतार
उतरो, अमर फूल में भर भर ओस-बिन्दु का रूप
दो दिन के जीवन में कर लूँ तुम से अपना प्यार

सजीले नभ के राजकुमार

कुहू निशा में अन्धकार सागर का आया ज्वार
खद्योतों में उड़ती थीं जब नव किरणें साकार
मेरी बुझती आँखों में जब था आँसू का भार
उन्हीं आँसुओं से आए थे ले अपना आकार

सजीले नभ के राजकुमार

———

हार

सजायें हैं मैंने ये हार !

उषा-सम रंजित रुचिर प्रसून
शरद्-बादल सी कलियाँ श्वेत
व्योम-से पल्लव कोमल श्याम
सभी हारों में हैं समवेत

सजाये हैं मैंने ये हार !

प्रात का पीकर अनिल अपार
लता की हरी - हरी - सी गोद
भूल कर फूल रहे थे फूल
हार में सोये हैं सविनोद
सजाये हैं मैंने ये हार !

ओस जल में मुख धोकर मौन
विहग का सुन कर कलरव गान
कली अलि-अवली से पा प्रात
स्वार्थ स्वागत का मीठा मान
सजाये हैं मैंने ये हार !

और पल्लव - पल्लव हैं बाल
सुकोमल हैं, मृदु हैं, सुकुमार
पवन ने उन्हें सरल शिशु जान
झुलाया है कितनी ही बार
सजाये हैं मैंने ये हार !

लताओं का यह यौवन - भार
चुरा लाया हूँ मैं इस बार
प्रिय, तुम ले लो इसको मोल
दृगों का दे तिरछा उपहार
सजाये हैं मैंने ये हार !

———.—

चित्ररेखा

(१)

यह जीवन मधु - भार है ।

आज तुम्हारे उर से मेरे ,

उर का नव शृंगार है ।

सुखविलास का स्पर्श हृदय पर

मानों पुलकित हार है ।

मेरे डग में आज हेमहिम ,

सुख का ही अभिसार है ।

कभी अधर पर हास-नेत्र में ,

कभी अश्रु की धार है ।

हास्य रुदन के इस मिलाप का

नाम कहो क्या प्यार है ?

मुझ में व्यथा, तुम्हारे उर में ,

आशा का अवतार है ।

जीव प्रकृति के चिर मिलाप से,

निर्मित यह संसार है ।

यह जीवन मधु-भार है ।

(२

समय ! आज तू मिलन - रूप बन ।

पलकों की गति सहित ठहर जा,

उर में है तारक - सा कम्पन।
जग में जितने सरस सुमन हैं,
वे सब मेरे विकसित मन हैं।
पवन - पंख पर बैठ किरण - से
आजावें मेरे जीवन धन।

समय ! आज तू मिलन - रूप बन।

(३)

इक्षुज-सी वह ध्वनि कोमल।

मेरे इस जागृति के जग में,
खिंची क्षितिज-सी वह प्रतिपल।
करुणायुत निषाद के स्वर में,
विहगों का है कंठ विकल।

मेरा क्षितिज न छू पाते हैं,
उनके बाल - प्रयास विफल।
उनके लघु उर में गूँजेगा,
कैसे विस्तृत मान चपल।
मेरी ध्वनि से ही प्रभात का,

अब होगा अवतार सरल।

(४)

वह प्रतिध्वनि डूबी जब वन में ।

एक वायु की लहर उठी
जो लगी कथा सी मेरे तन में ।
सूखी-सी सन्ध्या-सी निष्प्रभ
मैं था मानों विस्तृत नत नभ
जग की सारी आकांक्षा—
मैंने पाई अन्तिम दर्शन में ।
मैं भी भूल गया जब वन में ।

(५)

जीवन का छोटा - सा बादल ।

एक विशाल शून्य के उर में ,
क्यों इस भाँति हुआ उच्छृंखल ?
दिशा नहीं है ज्ञात और—
है पथ-विहीन सारा नभ-मंडल ।
आ-आ कर आकार विकृत
कर जाता है भविष्य का प्रतिपल ।
प्राण तुम्हारा हास-यही तो
है मेरा अस्तित्व अचंचल ।
मेरे कण-कण में निर्मित हो ,
सुखी विश्व का नव क्रीड़ास्थल ।

(६)

मेरे जीवन की स्मृति ले—
जागे उपवन के फूल।
प्रातः पवन सरल सेवक-सा—
है समीप अनुकूल।
अरी ओस! इस अवसर पर मत—
ले प्रसून प्रतिबिम्ब।
दो दिन के इस जीवन में—
मत कर यह पहली भूल।
आश्रित मत हो कुसुम-दलों पर, इस जीवन में जाग!
इन स्मृतियों का रूप मंजु है, पर उर में है आग!!

(७)

काले बादल की बूँद

काले तन के उज्ज्वल मन!
कलुष रहित हो तुम फिर भी
क्यों इतना प्रिय है अधःपतन?
यह नीला आकाश (जहाँ—
करते हैं कितने विश्व अटन।
अपना विस्तृत रूप भूल कर
बन कर लघु प्रकाश के कन!!)

—फैला है मेरे जीवन - सा
जिस में है स्वर्गिक गायन।
पतन तुम्हारा आज बनेगा,
इस वसुधा का अभिनंदन।

(८)

रंगमंच से सांध्य गगन !
कितने रंगों का प्रवेश है
कितनों का प्रस्थान - पतन।
जीवन की वह लहर (सजा है जिसमें छवि
का नव-यौवन)—वही क्षितिज में, आह !
प्रथम दर्शन में था अन्तिम दर्शन !!
यह विलास का नृत्य, समय का—
तन, सुख का मन, मेरा धन।
इसी चित्र रेखा से अंकित—
हुआ शून्य में जग-जीवन।

———

श्री हरबंसराय 'बच्चन'

बच्चन जी प्रसिद्ध मधुशाला और हालावादी कवि हैं। इनकी कविताओं में जीवन सुख और उन्मादिनी मदिरा के अस्तित्व से उत्पन्न होने वाले आनन्द की अनुभूति होती है। इनकी कविताओं पर फ़ारसी के कवि उमर खैय्याम की स्पष्ट छाया है। ये जीवन की क्षण-भंगुरता को प्याले में उठे मदिरा के बुद बुद के समान मानते हैं। साक़ी, मीना, प्याला को ये एक विशेष पारिमार्थिक दृष्टि से देखते हैं।

———

लहरों का निमंत्रण

तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण !

(१)

रात का अन्तिम प्रहर है,
झिलमिलाते हैं सितारे,
वक्ष पर युग बाहु बांधे
मैं खड़ा सागर किनारे,
वेग से बहता प्रभंजन
केश-पट मेरे उड़ाता,
शून्य में भरता उदधि-
उर की रहस्यमयी पुकारें
इन पुकारों की प्रतिध्वनि
हो रही मेरे हृदय में,
है प्रतिच्छायित जहाँ पर
सिन्धु का हिल्लोल-कंपन।
तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण !

(२)

विश्व की सम्पूर्ण पीड़ा
सम्मिलित हो रो रही है,
शुष्क पृथ्वी आँसुओं से
पाँव अपना धो रही है,
इस धरा पर जो बसी दुनिया
यही अनुरूप उसके—
इस व्यथा से हो न विचलित
नींद सुख की सो रही है;
क्यों धरणि अब तक न गलकर
लीन जलनिधि में गई हो ?
देखते क्यों नेत्र कवि के
भूमि पर जड़-तुल्य जीवन ?
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण !

(३)

जड़ जगत में वास कर भी
जड़ नहीं व्यवहार कवि का,
भावनाओं से विनिर्मित
और ही संसार कवि का,

बूँद के उच्छ्वास को भी
अनसुनी करता नहीं वह
किस तरह होता उपेक्षा—
पात्र पारावार कवि का !
विश्व-पीड़ा से सुपरिचित
हो तरल बनने, पिघलने
त्याग कर आया यहाँ कवि
स्वप्न लोकों के प्रलोभन।
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण !

(४)

जिस तरह मरु के हृदय में
है कहीं लहरा रहा सर,
जिस तरह पावस-पवन में
है पपीहे का छिपा स्वर,
जिस तरह अश्रु-आहों से
भरी कवि की निशा में
नींद की परियां बनातीं
कल्पना का लोक सुखकर,
सिन्धु के इस तीव्र हाहा-
कार ने, विश्वास मेरा,

है छिपा रखा कहीं पर
एक रस-परिपूर्ण गायन
तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण!

(५)

नेत्र सहसा आज मेरे
तम-पटल के पार जाकर
देखते हैं रत्न-सीपी से
बना प्रासाद सुन्दर

है खड़ी जिसमें उषा ले
दीप कुञ्चित रश्मियों का,

ज्योति में जिसकी सुनहली
सिन्धु-कन्याएँ मनोहर

गूढ़ अर्थों से भरी
मुद्रा बनाकर गान करतीं

और करतीं अति अलौकिक
ताल पर उन्मत्त नर्तन!
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण!

(६)

मौन हो गन्धर्व बैठे
कर श्रवण इस गान का स्वर
वाद्य-यन्त्रों पर चलाते
हैं नहीं अब हाथ किन्नर,

अप्सराओं के उठे जो
पग, उठे ही रह गए हैं,

कर्ण उत्सुक, नेत्र अपलक
साथ देवों के पुरन्दर

एक अद्भुत और अविचल
चित्र सा है जान पड़ता,

देव-बालाएँ विमानों से
रहीं कर पुष्प-वर्षण!
तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण!

(७)

दीर्घ उर में भी जलधि के
हैं नहीं खुशियाँ समातीं,
बोल सकता कुछ न, उठती
फूल बारम्बार छाती।

हर्ष रत्नागार अपना
कुछ दिखा सकता जगत को,
भावनाओं से भरी यदि
यह फफक कर फूट जाती।
सिन्धु जिस पर गर्व करता
और जिसकी अर्चना को
स्वर्ग झुकता, क्यों न उसके
प्रति करे कवि अर्घ्य-अर्पण,
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण!

(८)

आज अपने स्वप्न को मैं
सच बनाना चाहता हूँ,
दूर की इस कल्पना के
पास जाना चाहता हूँ,
चाहता हूँ तैर जाना
सामने अंबुधि-पड़ा जो,
कुछ विभा उस पार की
इस पार लाना चाहता हूँ,
स्वर्ग के भी स्वप्न भू पर
देख उनसे दूर ही था,

किन्तु पाऊँगा नहीं कर
आज अपने पर नियन्त्रण ,
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण !

(६)

लौट आया यदि वहाँ से
तो यहाँ नवयुग लगेगा,
नव प्रभाती गान सुनकर
भाग्य जगती का जगेगा ,

शुष्क जड़ता शीघ्र बदलेगी
सरस चैतन्यता में,

यदि न पाया लौट मुझ को
लाभ जीवन का मिलेगा ,

पर पहुँच ही यदि न पाया
व्यर्थ क्या प्रस्थान होगा ?

कर सकूँगा विश्व में फिर-
भी नए पथ का प्रदर्शन,
तीर पर कैसे रुकूं मैं
आज लहरों में निमंत्रण !

(१०)

स्थल गया है भर पथों से
नाम कितनों के गिनाऊँ ;
स्थान बाकी है कहाँ, पथ
एक अपना ही बनाऊँ ?
विश्व तो चलता रहा है
थाम राह बनी - बनाई,

किन्तु इन पर किस तरह मैं
कवि-चरण अपने बढ़ाऊँ !
राह जल पर भी बनी है,
रूढ़ि पर न हुई कभी वह,

एक तिनका भी बना सकता
यहाँ पर मार्ग नूतन !
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण !

(११)

देखता हूँ आँख के आगे
नया यह क्या तमाशा-
कर निकल कर दीर्घ जल से
हिल रहा करता मना-सा

है हथेली - मध्य चित्रित
नीर - मग्न प्राय बेड़ी !
मैं इसे पहचानता हूँ
है नहीं क्या यह निराशा ?
हो पड़ीं उद्दाम इतनी
उर - उमँगें, अब न उनको
रोक सकता भय-निराशा का
न आशा का प्रबंचन।
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण !

(१२)

पोत अगणित इन तरँगों ने
डुबाये, मानता मैं,
पार भी पहुँचे बहुत से-
बात यह भी जानता मैं,
किन्तु होता सत्य यदि यह
भी, - सभी जलयान डूबे
पार जाने की प्रतिज्ञा
आज बरबस ठानता मैं
डूबता मैं, किन्तु उतराता
सदा व्यक्तित्व मेरा,

हों युवक डूबे भले ही
है कभी डूबा न यौवन !
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण

(१३)

आ रहीं प्राची क्षितिज से
खींचने वाली सदाएँ,
मानवों के भाग्य-निर्णायक
सितारो ! दो दुआएँ,
नाव, नाविक, फेर ले जा
है नहीं कुछ काम इसका,
आज लहरों से उलझने को
फड़कती हैं भुजाएँ,
प्राप्त हो उस पार भी इस
पार सा चाहे अँधेरा
प्राप्त हो युग की उषा
चाहे लुटाती नव-किरण धन !
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण !

———

श्री अज्ञेय

श्री अज्ञेय जी हिन्दी छायावाद के अलमस्त कवि हैं । इनकी आकृति से कविता झलकती है । इनका भग्नदूत, हृदय की व्यथा, आनन्द और उन्माद की प्रतिच्छाया है, इनकी कविता में अन्तर की पुकार पर अधिक ज़ोर रहता है । बहिर्जगत की प्रेरणा अन्तर की प्रेरणा से एकीभूत होकर जो कुछ गा उठती है वही इनकी कविता है । कविता इनके हृदय का उच्छ्‌वास है जो उठते बैठते प्राणों से टकराकर निकलती रहती है । ये बड़े भावुक तथा दार्शनिक कवि हैं । आप कविता के साथ कहानी भी लिखते हैं । इनके भग्नदूत का हिन्दी-जगत में अच्छा आदर हुआ है । आजकल आप एक उपन्यास लिख रहे हैं ।

श्री अज्ञेय

नाम तेरा

पूछ लूँ मैं नाम तेरा !

मिलन रजनी हो चुकी विच्छेद की अब है सबेरा

(१)

जा रहा हूँ और कितनी

देर अब विश्राम होगा—

तू सदय है किन्तु तुझको

और भी तो काम होगा।

प्यार का साथी बना था

विघ्न बनने तक रुकूँ क्यों ?

समझ ले, स्वीकार करले

यह कृतज्ञ प्रणाम मेरा !

पूछ लूँ मैं नाम तेरा !

(२)

और होगा मूर्ख जिसने
चिर मिलन की आस पाली
'पा चुका–अपना चुका'
है कौन ऐसा भाग्यशाली ?

इस तड़ित को बाँध लेना
देव से मैंने न माँगा–

मूर्ख उतना हूँ नहीं,
इतना नहीं है भाग्य मेरा !

पूछ लूँ मैं नाम तेरा !

(३)

श्वास की हैं दो क्रियायें–
खींचना, फिर छोड़ देना,
कब भला सम्भव हमें इस
अनुक्रम को तोड़ देना ?

श्वास की उस सन्धि-सा है
इस जगत में प्यार का पल–

रुक सकेगा कौन कब तक
बीच पथ में डाल डेरा !

पूछ लूँ मैं नाम तेरा !

(४)

घूमते हैं गगन में जो
दीखते स्वच्छन्द तारे-
एक आँचल में पड़े भी
अलग रहते हैं बिचारे

भूल में पल - भर भले
छू जायँ उनकी मेखलाएँ-
दास मैं भी हूँ नियति का
क्या भला विश्वास मेरा!
पूछ लूँ मैं नाम तेरा

(५)

प्रेम को चिर - ऐक्य कोई
मूढ़ होगा तो कहेगा-
विरह की पीड़ा न हो तो
प्रेम क्या जीता रहेगा?

जो सदा बाँधे रहे वह
एक कारावास होगा-
घर वही है जो थके को
रैन - भर का हो बसेरा!
पूछ लूँ मैं नाम तेरा!

(६)

प्रकृत है, अनुभूत, वह
रस दायिनी निष्पाप भी है,
मार्ग उसका रोकना ही
पाप भी है, शाप भी है ;

मिलन हो, मुख चूम लें ;
आई बिदा लें राह अपनी

मैं न पूछूँ, तुम न जानो
क्या रहा अंजाम मेरा !

पूछ लूँ मैं नाम तेरा !

(७)

रात बीती, यदपि उसमें
संग भी था, रंग भी था,
अलस अंगों में हमारे
व्याप्त एक अनंग भी था,

तीन की उस एकता में
प्रलय ने ताण्डव किया था-

सृष्टि भर को एक क्षण-भर
बाहुओं ने बाँध घेरा !

पूछ लूँ मैं नाम तेरा !

(८)

सोच मत, "यह प्रश्न क्यों जब
अलग ही हैं मार्ग अपने ?"
सच नहीं होते इसी से
भूलता है कौन सपने ?
मोह हम को है नहीं पर
द्वार आशा का खुला है-
क्या पता फिर सामना हो—
जाय तेरा और मेरा !
पूछ लूँ मैं नाम तेरा !

(९)

कौन हम-तुम ? दुःख-सुख
होते रहे, होते रहेंगे
जानकर परिचय परस्पर
हम किसे जाकर कहेंगे ?
पूछता हूँ क्यों कि आगे
जानता हूँ क्या बदा है—
प्रेम जग का, और केवल
नाम तेरा, नाम मेरा !
पूछ लूँ मैं नाम तेरा !
मिलन रजनी हो चुकी, विच्छेद का अब है सवेरा ।

———

शब्दार्थ

४० पृष्ठ

तरनि=तनूजा-यमुना

कूल=किनारे

जल=परसन-जल छूने को

किधौं=मानों

मुखर=शीशा (मुकुर शब्द है)

लखत=देखते हैं

उझकि=झाँककर

प्रणावत=झुकते हैं

आतप=धूप

सैवालन=शैवाल, एक प्रकार की पानी की घास।

कुमुदिनी=नलिनी

मनु=मानों

गोभा=पौधे

उपमान=समान (जिससे उपमा दी जाय)

भृंगन=भौरे

अस्तुति=स्तुति

४१ पृष्ठ

झांई=छाया, परछाई।

कमला=लक्ष्मी

बगरे=चमकते

राका=पूर्णमासी की चाँदनी

आभा=शोभा

बुड़ात=डूब जाता है

ताछन=उस समय

अम्बर=आकाश

मधि=मध्य

लोललहर=चंचल तरङ्ग

लहि=लेकर

मुकुर=शीशा

प्रतिबिम्ब=परछाईं

लौटत=लौटता

हिंडोरन=झूला

४२ पृष्ठ

कल=सुन्दर

बालगुड़ी=छोटी पतंग

अवगाहत=नहाती हुई

जुगपच्छ=दोनों पक्ष (कृष्ण और शुक्ल

पारावत=कबूतर

बालुका=रेत

४३ पृष्ठ

सिवा=गीदड़ी

अजौं=अब भी

मग=पन्थ

बीत्यौ=बीत गया

अनहित=बुराई

४४ पृष्ठ

प्रतिकूल=उलटा

भुवमसान=पृथ्वीश्मशान

अनुसरि=पीछे चलेंगे

उपासी=भूखे, उपासक

४५ पृष्ठ

छुधित=(क्षुधित)-भूखे, दुखी

४६ पृष्ठ
रनरंग=लड़ाई
पटिकर=फेंट कसकर
रनिकंकन=लड़ाई का कंकण
मझारी=मध्य
जवनचय=यवनसमूह
४७ पृष्ठ
डसत=काटती है
उपेछे=उपेक्षा करने पर
जौन=जो
धौंसा=नगाड़ा
पयान=प्रस्थान
४८ पृष्ठ
नेम=नियम
५० पृष्ठ
सुचि=शुद्ध
लागी बहन=बहने लगी
सुखमा=शोभा
मृदुल=कोमल
वृच्छ=वृक्ष
हरितमनि=पुखराज
इन्द्रवधून=वीरबहूटी
मानिक=लाल (रत्न)
चंद्रहास=तलवार
चंचला=बिजली
नीरद=बादल
उफनान लगे=उफनने लगे
झरना=झरने, सोते

दादुर=मेंढक
केकी=मोर
पावस=वर्षा ऋतु
ग्रीसम=गरमी
अमल=राज्य
५१ पृष्ठ
कान कीजे=सुनिये
विपम कुपथ=ऊँचानीचा, बुरा मार्ग
नीकी=सुन्दर
रूरे=सुन्दर
तिनढिग=उनके पास
५२ पृष्ठ
'अब वीरता' पाठ है ।
५३ पृष्ठ
तूल=रुई
सुमनरंजित=फूलों से सजी हुई
परयंक=पलंग
धारना=विचार
५४ पृष्ठ
जड़ जंगम=चर और अचर
दनुज=राक्षस
कुंजर=हाथी
विहंगम=पक्षी
तुंग=ऊँचा
तड़ाग=तालाब
तरङ्गिनी=नदी
दिवाकर=सूर्य

भुजंगम=सांप
पंचप्रपंच=पांचों तत्व
विरंचिको=ब्रह्मा का
जहान=संसार

५५ पृष्ठ

तिमिर=अंधेरा
वात=वायु (यहाँ आंधी से अर्थ है)
निदाघ=गरमी, ग्रीश्म ऋतु
वारिधि=समुद्र
अम्बु=जल
कनक=सोना

५६ पृष्ठ

चमचमी=चमकती हुई, साफ़
चौपायों=पशुओं
अस्थि=हड्डियां

५७ पृष्ठ

गीधे रहे=फंसे रहे
आयुस=उम्र

५८ पृष्ठ

मुद्रा=कान के कुण्डल

६१ पृष्ठ

पधारि=पहुंचकर
ग्राम्यजन=गांव के लोग
भुलौनी=भूल

६२ पृष्ठ

बहलैहैं=बहलावेंगी

६३ पृष्ठ

पश्चिमीय-सेवित=पश्चिम के समुद्र और वसन्त से सेवित
मननवृत्ति=विचारशीलता
प्रतिहृदयमध्य=प्रत्येक मनुष्य के हृदय में
अतिगरिष्ठ=अत्यन्त गंभीर
दर्प=अभिमान
मनुजकुलनायकता=मनुष्यों पर नेतृत्व
व्यवसाय=व्यापार
निरत=लगे हुए

६४ पृष्ठ

पुरन्दर=इन्द्र
वियोगतप्ता=वियोग से दुःखिता
प्रकोपन=क्रोध
दाक्षिण्य=चतुराई
बानक=रूप

६५ पृष्ठ

धाराधर=बादल
प्रानद=प्राण देने वाले
भीय=भय
छुडावनहार=छुड़ाने वाले
कलुस=पल
पतवार=बल्ली, चप्पू

६६ पृष्ठ

सगरौ=सब
निह्चल=अटल
जीवनधन=जल ही है धन जिस का ऐसा बादल

अवलम्बन=सहारा
पठवहु=भेजो
कहरवा=एक प्रकार का गाना जो वर्षा के दिनों में पूर्व की ओर गाया जाता है

६८ पृष्ठ
अटन=सैर, भ्रमण
प्रसवकाल=उदय होने का समय

६९ पृष्ठ
अरविन्दनिभ=कमल के समान
दिङ्नारि=दिगंगना, दिशारूपी स्त्रियां
प्रखर=तेज़
पारणा…लिप्सु=रुधिर को पीकर व्रत समाप्त करने वाला
बिम्ब=गोला

७० पृष्ठ
आलिंगिता=लिपटी हुई
आर्तियुत=दुखभरा

७२ पृष्ठ
सिन्धुसुता=लक्ष्मी
गिरिसुता=पार्वती
कसाला=कष्ट
गरल अहारी=विष खाने वाले, महादेव।

७३ पृष्ठ
दरसैये=दिखाते रहना
अत=होते हुए

७४ पृष्ठ
संवारो=याद करो, संभालो
सौख्य-सुधा=सुख का अमृत
सुभग=सुन्दर
विनोद=आनन्द
वसुधा=पृथ्वी
रसाल=आम
षट्पद=भौंरा
मकरन्द=फूलों का रस

७५ पृष्ठ
पीतपटा=पीला दुपट्टा
सत=सत्यनारायण 'कवि'

७६ पृष्ठ
वारन=हाथी (गजग्राह) का
वदत=कहते है
मुकुन्द=कृष्ण

७७ पृष्ठ
छैयाँ=छाया
झुराय=दुखी
वसनाभिराम=सुन्दर वस्त्र
अगार=आगे
नवनीत=मक्खन

८० पृष्ठ
अविरुद्ध=अनुकूल
सविता=सूर्य, परमेश्वर

८१ पृष्ठ
सटकै=समाप्त हो जाय, भाग जाय
कमला=लक्ष्मी

सुरपादप=कल्पवृक्ष
छेता=मौका, अवसर, बारी
तोशा=खाना पीना
गैल=रास्ता
हालाहाल=उसी समय

८२ पृष्ठ

अम्बर=आकाश
शम्बुक=सीपी
छिति=क्षिति, पृथ्वी
छिगुनी=छोटी उंगली
सैल=पर्वत
मूढन=मूर्ख

८७ पृष्ठ

अवसान=अन्त
लोहित=लाल
कमलिनिकुलवल्लभ=सूर्य
विहंगमवृन्द=पक्षी समूह
अनुरंजित=लाल
पादप=वृक्ष
हरीतिमा=हरियाली
अरुणिमा=लाली
पुलिनों=तटों
तरणिबिम्ब=सूर्य
तिरोहित=अन्तर्हित
तरणिजा=यमुना
क्वणित=शब्दायमान
विषाण=सींग
धावित=दौड़ती हुई
धवल=सफेद
धूसर=धूल मिला
समवेत=इकट्ठी हुई
गोरज=गोधूली

८९ पृष्ठ

तमचूर=मुर्ग
दिनकर=सूर्य
मेदिनी=पृथ्वी
व्याली=सर्पिणी

९० पृष्ठ

बीचियां=लहर
दावा=बन की आग

९२ पृष्ठ

सूचिमेघा=यहाँ 'भेद्या' पाठ ठीक मालूम है। तब इसका अर्थ हो गया। बहुत गहरी।
सद्म=घर
क्षिप्त=पागल

९३ पृष्ठ

उन्मूलिता=उखड़ी हुई
खिद्यमाना=दुखी
व्यथित=दुखी
मधुमास=वसन्त
वसुन्धरा=पृथ्वी
अनूपता=अनोखापन
मनोज्ञता=सुन्दरता
अकीलिता=स्वच्छन्द

काकलीमयी=कोकिल की आवाज़ से युक्त
निसर्ग=रूप
सौरभ=खुशबू

९४ पृष्ठ

मानसमोदिनी=मन को खुश करने वाली

९६ पृष्ठ

विनिमय=बदला
नीरुज=नीरोग, स्वस्थ

१०० पृष्ठ

कलोल=खेल
धनलिप्सा=धन पाने की इच्छा
देशाधिप=राजा
तुमुल=घोर
अनी=सेना
सत्वर=जल्दी
नीति निपुण=नीति चतुर
मंत्रणाकुशल=विचार करने में चतुर

१०२ पृष्ठ

नवोढा=नवविवाहिता

१०३ पृष्ठ

कटि=कमर
असि=तलवार
लक्षित=प्रतीति
उद्दाम=उत्कट, अधिक प्रबल

१०४ पृष्ठ

अन्तस्तल=हृदय

१०५ पृष्ठ

निर्निमेष=इकटक, लगातार

१०६ पृष्ठ

हर्ष विमोहित=हर्ष से मुग्ध
रोमांचित=रोंगटे खड़े हो जाने की अवस्था में
आन्दोलित=हिलते हुए
विक्षोभ विकम्पित=दुःख से कांपते हुए

१०७ पृष्ठ

वीरप्रसू=वीरों का प्रसव करने वाली

१०८ पृष्ठ

पल्लवित=कोमल पत्तों वाली
समन्वित=युक्त

१०९ पृष्ठ

निरातप=धूप से रहित
पुष्कर=कमल
चित्रविचित्र=रंग विरंगे

११० पृष्ठ

कन्दुक=गेंद

१११ पृष्ठ

निशीथ=आधी रात

११२ पृष्ठ

मतीरे=तरबूज

११७ पृष्ठ

श्यामा=एक चिड़िया

११८ पृष्ठ
धागों=आंसू के धागों, अश्रु जल से
झंझा=आंधी
तमचूर्ण=अंधकार की धूल
१२१ पृष्ठ
लावण्यशैल=सुंदरता का पर्वत
१२४ पृष्ठ
मन्थरगति=धीरे धीरे
किंजल्क=कमल का केशर
पराग=फूलों की धूल
१२५ पृष्ठ
कोकनद=लालकमल
१२६ पृष्ठ
प्रत्यंचा=डोरी
अजिर=आंगन
१३२ पृष्ठ
संघात=संघर्ष, युद्ध
हिमपात=नाश
१३४ पृष्ठ
निभृत=एकान्त
१३६ पृष्ठ
हिमकम्पित=सर्दी से ठिठुरते हुए
१३७ पृष्ठ
गलितांग=कोढ़ी, दुखी
१३८ पृष्ठ
सौध=महल
कीर=तोता
पंजरस्थित=पिंजड़े में बैठा हुआ
दाडिम=अनार
१३९ पृष्ठ
भित्तियां=दीवालें
१४० पृष्ठ
पादपद्मों=चरणकमलों
आश्रितवत्सले=शरण में आये हुए पर प्रेम करने वाली
१४१ पृष्ठ
सलिल आवर्त=पानी का चक्कर
१४३ पृष्ठ
गीतातीत=गायन से परे
१४४ पृष्ठ
आखेटक=शिकारी
१४५=पृष्ठ
लक्ष्यसिद्धि का मानी=निशान का धनी
आहत=भरा हुआ
आग्रही=हठी
१४९=पृष्ठ
आमिष=मांस
१५० पृष्ठ
अशेष=सम्पूर्ण
१५१ पृष्ठ
नागर=शहरी लोग
शाखामृग=बन्दर
१५३ पृष्ठ
हलाहल=विष

१५४ पृष्ठ
जाज्वल्य=चमकते, दहकते
१५६ पृष्ठ
विधात्री=ब्रह्माणी, जगन्माता
बेता='बेटा'
सनाका=बिजली सी दौड़ गई
१५७ पृष्ठ
तंगवाते=तंग करते हुए
१६० पृष्ठ
तुंग=ऊंचा
शृंग=शिखर
सुरसरिता=आकाशगंगा
सुरा…अन्धकार=शराब का नशा
शुचिता=शुद्धता
नन्दन…विटप=नन्दनकानन के घने वृक्ष
१६१ पृष्ठ
वेणु=वंशी
पंचशर=कामदेव, पंचबाण
१६२ पृष्ठ
नूपुर=बिछुए
१६३ पृष्ठ
वृन्त=शाखा
१६४ पृष्ठ
अम्लान=खिली हुई
गन्धलुब्ध=गन्ध के लोभी
१६५ पृष्ठ
केलि=क्रीड़ा
विरहविधुर=विरह पीड़ित
१६८ पृष्ठ
म्रियमाण=मरे हुए
१६६ पृष्ठ
नन्दन…समीर=नन्दन वन के कुसुमों के सुगन्धित रस से प्रमत्त वायु
अवसाद=पीड़ा, दुःख
१७० पृष्ठ
कालताण्डव=मृत्यु का नाच
१७५ पृष्ठ
विशृंखल=नियमरहित
१७६ पृष्ठ
सृति=सरण
व्रीडा=लज्जा
१७८ पृष्ठ
पुंज=समूह
निकुंज=बगीचों
मधुररोर=मीठी आवाज़
१८५ पृष्ठ
त्राहित्राहिरव=रक्षाकरो की आवाज़
भस्मसात्=जलजांय
कालकूट=विष
प्रांगण=आंगन
१८८ पृष्ठ
तिमिरग्रस्ता=अंधेरे से घिरी हुई
दुकूल=दुपट्टा
१८६ पृष्ठ
खग्रास ग्रहण=सम्पूर्ण ग्रहण

१९० पृष्ठ
पूजार्ति=पूजा के लिए
मत्ती=मस्ती
१९१ पृष्ठ
हृत्खंड=हृदय-देश
धूम्र-यान=धुँए का रथ
१९२ पृष्ठ
निसार=न्योछावर
वह्नि=आग
तिरोहित=खो गई
कुहुकिनी=कोयल
निनादित=गुंजित
विपन्नों=विपत्ति ग्रस्तों
१९५ पृष्ठ
सुहृदय=अच्छे दिल वाले
मार्मिक=हृदय-स्पर्शी
परिमाजित=परिष्कृत, साफ़
अप्रतिम=बे-जोड़
१९६ पृष्ठ
आह्लाद=आनन्द
आत्म-विनोद=अपनी बात कहना
१९७ पृष्ठ
बटोही=रास्तागीर
नभ-चुंबी=आसमान को छूने वाले
प्रतीति=विश्वास
१९८ पृष्ठ
मंद-स्मिति=हलकी मुसकान
भुवन-नायक=परमेश्वर

१९९ पृष्ठ
विस्तार=फैलाव
व्यक्त=प्रकट
नीरव=निःशब्द
अंकन=आँकना
अनुभूति=अनुभव
२०० पृष्ठ
भ्रांत=भूला हुआ (पुस्तक में प्रांत छप गया है जो ग़लत है।)
श्रवण शून्यता=बहरापन
साधक=साधना करने वाला
सृजन=बनाना
अज्ञात=अनजान
अक्षय=कभी समाप्त न होने वाला
युग-निर्माण=ज़माने को बनाना
पुनीत=पवित्र
२०१ पृष्ठ
हर्षोत्फुल्ल=खुशी से पुलकित
विधि-निषेध=कर्तव्य अकर्तव्य के नियम
पदक्षेप=चलते समय पैरों का रखना, उठाना
२०२ पृष्ठ
कालकूट विष=सब से तेज ज़हर
द्वंद्व=संघर्ष
लीलामय=लीला करने वाला, ईश्वर

२०३ पृष्ठ

विस्मरण=भूलना

स्मरण=याद

सुषुप्त=सोये हुए

आवृत-विवृत=खोलना बंद करना

२०४ पृष्ठ

लय=स्वर-लहरी

लय=डूब जाना

सीमा-रेखा=मिलाने वाली लकीर

अनय=अन्याय

अभेद=भेद-भाव-हीन

२०५ पृष्ठ

त्रिकाल-सहचर=सदा साथ रहने वाला

२०६ पृष्ठ

विजन=सूना

श्रेयष्कर=हितकर

नश्वर=समाप्त (नष्ट) हो जाने वाला

सबल=सहारा

जीवन-लेख=आयु

संचय=पूंजी

इष्ट-लाभ=मन चाही वस्तु की प्राप्ति

२०७ पृष्ठ

सहचर=साथी

आशय=मतलब

जरा=बुढ़ापा

अनुसंधान=खोज

२०८ पृष्ठ

अशेष=कभी खतम न होने वाला

विराट=परमेश्वर

परिधि=घेरा

अवधि=समय, उम्र

२०९ पृष्ठ

आख्यान=कहानी

प्रपात=झरना

रहस्य=भेद

उद्घाटन=खोलना

दु:खकातरता=दुख से दुखित होना

प्रताड़ना=कष्ट

त्रस्त=दुखी

२११ पृष्ठ

तिमिरावृत=अंधकारपूर्ण

नि:शेष=समाप्त

जीवन कांत=जीवन स्वामी

२१२ पृष्ठ

अवलम्ब=सहारा

म्रियमाण=मरा-सा

त्राण=छुटकारा

२१३ पृष्ठ

निमग्न=डूबा हुआ

आर्तनाद=करुण पुकार

रिक्तता=खालीपन

क्षणिक=थोड़ी देर रहने वाला

निखिल=सम्पूर्ण

सुधा=अमृत

२१४ पृष्ठ
क्षण-भंगुरता=अस्थिरता
खनि=खान
२१५ पृष्ठ
ग्रीष्म-खिन्न=गरमी से दुखी
हर्ष-विभोर=खुशी से पागल
विनत-मुखी=नीचे मुँह किए
प्रखर-तेज़
प्रसार=विस्तार
२१६ पृष्ठ
एकाकी=अकेला
हेम-चूड़ा=बर्फीली चोटी
महिमान्वित=गौरवशाली
२१७ पृष्ठ
चूड़ा=चोटी
मृदुतर=कोमल
सोपान=सीढ़ियां
दुर्गमता=कठिनता
स्वेद=पसीना
सुस्थिर=अचल
२१८ पृष्ठ
विराम=विश्राम
आह्लाद=आनन्द
अरुण=लाल
२१९ पृष्ठ
स्तूप=छत्र
नीर=पानी
रव=आवाज, ध्वनि

२१९ पृष्ठ
घर्घर-स्वर=घड़घड़ाहट
२२० पृष्ठ
पोती=रँगी
पावस=वर्षा ऋतु
आतप=अग्नि
वार्ता=कथा
उभय=दोनों
असीम=सीमा-रहित
मार्ग-प्रस्तर=रास्ते के पत्थर
२२१ पृष्ठ
प्रसून=फूल
मृदु=मधुर, मीठा
मारुत=पवन
उछाह=उत्साह
सुरभि=पवन
चारु=सुन्दर
२२२ पृष्ठ
अपरिचित=अनजान
काच-खण्ड=काच का टुकड़ा
अविरत=लगातार
अकिंचनता=दरिद्रता
हेम-योग=स्वर्णावसर
२२३ पृष्ठ
लय=अदृश्य होना
२२४ पृष्ठ
प्रवाल=मूँगे
रजत=चांदी जैसे, सफ़ेद

२२७ पृष्ठ
अलिनी=भ्रमरी
पाटल=एक प्रकार का फूल
२२८ पृष्ठ
दृग=नेत्र
उन्मन=उदास
नूतन=नया
पाहुन=महमान
२२९ पृष्ठ
निलय=गृह
अनुसरण=पीछे चलना
निर्वाण=मुक्ति
२३० पृष्ठ
क्रय=लेना, खरीदना
पारावार=समुद्र
आलोक=प्रकाश
घनसार=चन्दन
२३१ पृष्ठ
नत=नीचा
अभिसार=प्रिय की खोज में जाना
निस्पन्द=कम्पन-हीन
प्रवाहिनी=नदी
शलभ=पतंग
२३२ पृष्ठ
दामिनी=बिजली
संसृति=सृष्टि, संसार
२३३ पृष्ठ
मृदुल=कोमल

२३३ पृष्ठ
ज्वाला=अग्नि की लपट
२३४ पृष्ठ
द्रुम=वृक्ष
हृदयंगम=हृदय में धारण
द्रुततर=शीघ्र
२३५ पृष्ठ
कोष=खजाना
२३८ पृष्ठ
अनियंत्रित=वश से बाहर
२३९ पृष्ठ
उलूक=उल्लू
विहार=आश्रम
गुरुतर=भारी
२४० पृष्ठ
आगार=खजाना
शून्य=रहित
प्रभा=प्रकाश
२४१ पृष्ठ
भ्रांति=भ्रम
अनायास=अचानक
२४२ पृष्ठ
रौरव=घोर-नरक
२४३ पृष्ठ
मनसिज=कामदेव
परिताप=दुःख
आह्वान=पुकार

२४४ पृष्ठ

आत्म-विस्मृति=अपने को भूल जाना

२४५ पृष्ठ

धरा=पृथ्वी
असह्य=न सहा जाने वाला
अनुकूल=माफ़िक
प्रतिकूल=विरुद्ध
क्षणिक=क्षण भर का
ऐश्वर्य=वैभव
निर्मूल=उखड़ जाना
शिखर=चोटी
आकांक्षा=इच्छा
झंझावात=आंधी
अनंग=कामदेव
मुग्ध=मोहित
पतंग=परवाना

२४६ पृष्ठ

भृकुटि=भौंह
सारंग=धनुष
निपट=बिल्कुल
रंक=ग़रीब
अमिट=न मिटने वाले
विधना=ब्रह्मा
आतंक=त्रास
मद=अभिमान
बंक=टेढ़ा

२४७ पृष्ठ

भ्रूचाप=भौंह रूपी कमान
अभिशाप=बद दुआ
नीर=पानी
ऊष्ण=गरम
नितान्त=बिल्कुल

२५० पृष्ठ

दानव=राक्षस
दिवेश=देवता
विलोक=देखकर
व्याल=सर्प
बड़वानल=समुद्र में लगने वाली आग
भुवन-भास्कर=सूर्य
निदाघ=गरमी का मौसम

२५१ पृष्ठ

कंटक=कांटा
वह्नि=आग
द्रुत-गति=जल्दी चलने वाला
कालकूट=एक प्रकार का भीषण विष
रुद्राणी=दुर्गा
कमलासन=ब्रह्मा
ज्वलित=जलती हुई
विभूति=वैभव, विभूति
तीव्र=गहरी
अतीत=भूतकाल

२५२ पृष्ठ
संचित=इकट्ठा
पांचाली=द्रौपदी
दुकूल=चीर, साड़ी
अंतस्तल=हृदय
शोणित=खून
इंगित=इशारा
निशीथ=आधी रात
अभिसार=शृङ्गार
अदभ्र=महान्
विभ्राट=ऐश्वर्य
कटक=सेना
कृष्णावर्ण=काला रंग
भोर=सवेरा
सघनान्धकार=गहरा अन्धेरा
उपल=पत्थर
२५३ पृष्ठ
आघात=चोट
ज्येष्ठ=जेठ का महीना
अश्रु=आँसू
प्रतिहिंसा=बदला
प्रण=निश्चय
अभय=निडर
विमर्श=परामर्श, सलाह
२५४ पृष्ठ
विप्लव=विद्रोह
नग्न=नंगी
कृपाणों=तलवारें
विस्फोटक=फूटने वाले
मेदिनी=पृथ्वी
जटिल=उलझा हुआ
२५५ पृष्ठ
भुजंग=नाग, सर्प
कनिष्ठका=सबसे छोटी अंगुली
२५८ पृष्ठ
उन्मुक्त=स्वतन्त्र
उल्लास=खुशी
शशि=चंद्रमा
मृदुहास=मीठी हँसी
परिहास=हास्य
निर्झर=चश्मे, झरने
उदधि=समुद्र
परिधि=गोलाई, हद्द
हेरा=ढूंढना
२५६ पृष्ठ
असित=काला
शुभ्र=उजली, सफ़ेद
रश्मि=किरण
२६० पृष्ठ
घन=बादल
गिला=बुराई
मेघ=बादल
नभ=आकाश
क्रन्दन=पुकार
मुक्ता=मोती

२६१ पृष्ठ
पारावार=समुद्र
गगन=आकाश
अंक=गोदी
२६२ पृष्ठ
रुदन=रोना
अभिशाप=बद दुआ
दुलार=प्यार
२६३ पृष्ठ
क्षितिज=वह स्थान जहां ज़मीन और आसमान मिलते हुए दिखाई देते हैं
सौरभ=सुगन्ध
बिहान=सवेरा
रश्मि=किरण
वात=हवा
कुसुमित=फूला हुआ
२६४ पृष्ठ
अनवद्य=शुभ्र
किंजल्क=केशर
रवि=सूर्य
मृत्य=मरने वाला
समुच्छ्‌वास=सांस
२६५ पृष्ठ
सूक्ष्म=बारीक
शैशव=बचपन
विस्तृत=फैला हुआ
कुहु=अंधेरी
खद्योत=जुगनू

२६६ पृष्ठ
रुचिर=सुन्दर
प्रसून=फूल
व्योम=आकाश
पल्लव=पत्ते
समवेत=संयुक्त
२६७ पृष्ठ
अनिल=हवा
लता=बेल
विहग=पक्षी
अली=भौंरे
उपहार=इनाम
२६८ पृष्ठ
उर=हृदय
हेम=सोना
अधर=ओंठ
व्यथा=दुःख
चिर=दीर्घकालीन
निर्मित=बना हुआ
२६९ पृष्ठ
तारक=तारे
सुमन=फूल
इक्षुज=मधुर
ध्वनि=आवाज़
निषाद=बहेलिया
विहग=पक्षी
प्रयास=प्रयत्न

२५२ पृष्ठ
संचित=इकट्ठा
पांचाली=द्रौपदी
दुकूल=चीर, साड़ी
अंतस्तल=हृदय
शोणित=खून
इंगित=इशारा
निशीथ=आधी रात
अभिसार=शृङ्गार
अदभ्र=महान्
विभ्राट=ऐश्वर्य
कटक=सेना
कृष्णवर्ण=काला रंग
भोर=सवेरा
सघनान्धकार=गहरा अन्धेरा
उपल=पत्थर

२५३ पृष्ठ
आघात=चोट
ज्येष्ठ=जेठ का महीना
अश्रु=आँसू
प्रतिहिंसा=बदला
प्रण=निश्चय
अभय=निडर
विमर्श=परामर्श, सलाह

२५४ पृष्ठ
विप्लव=विद्रोह
नग्न=नंगी
कृपाणों=तलवारें
विस्फोटक=फूटने वाले
मेदिनी=पृथ्वी
जटिल=उलझा हुआ

२५५ पृष्ठ
भुजंग=नाग, सर्प
कनिष्ठका=सबसे छोटी अंगुली

२५८ पृष्ठ
उन्मुक्त=स्वतन्त्र
उल्लास=खुशी
शशि=चंद्रमा
मृदुहास=मीठी हँसी
परिहास=हास्य
निर्झर=चश्मे, झरने
उदधि=समुद्र
परिधि=गोलाई, हद्द
हेरा=ढूंढना

२५९ पृष्ठ
असित=काला
शुभ्र=उजली, सफ़ेद
रश्मि=किरण

२६० पृष्ठ
घन=बादल
गिला=बुराई
मेघ=बादल
नभ=आकाश
क्रन्दन=पुकार
मुक्ता=मोती

२६१ पृष्ठ

पारावार=समुद्र

गगन=आकाश

अंक=गोदी

२६२ पृष्ठ

रुदन=रोना

अभिशाप=बद दुआ

दुलार=प्यार

२६३ पृष्ठ

क्षितिज=वह स्थान जहां ज़मीन और आसमान मिलते हुए दिखाई देते हैं

सौरभ=सुगन्ध

बिहान=सवेरा

रश्मि=किरण

वात=हवा

कुसुमित=फूला हुआ।

२६४ पृष्ठ

अनवद्य=शुभ्र

किंजल्क=केशर

रवि=सूर्य

मृत्य=मरने वाला।

समुच्छ्वास=सांस

२६५ पृष्ठ

सूक्ष्म=बारीक

शैशव=बचपन

विस्तृत=फैला हुआ।

कुहु=अंधेरी

खद्योत=जुगनू

२६६ पृष्ठ

रुचिर=सुन्दर

प्रसून=फूल

व्योम=आकाश

पल्लव=पत्ते

समवेत=संयुक्त

२६७ पृष्ठ

अनिल=हवा

लता=बेल

विहग=पक्षी

अली=भौंरे

उपहार=इनाम

२६८ पृष्ठ

उर=हृदय

हेम=सोना

अधर=ओंठ

व्यथा=दुःख

चिर=दीर्घकालीन

निर्मित=बना हुआ

२६९ पृष्ठ

तारक=तारे

सुमन=फूल

इक्षुज=मधुर

ध्वनि=आवाज़

निषाद=बहेलिया

विहग=पक्षी

प्रयास=प्रयत्न

२६६ पृष्ठ

मान=रूठना
चपल=चंचल

२७० पृष्ठ

प्रतिध्वनि=आवाज़
वायु=हवा
निष्प्रभ=प्रकाश-रहित
आकांक्षा=इच्छा
अन्तिम=आखिरी
उच्छृंखल=चंचल
ज्ञात=मालूम
पथ-विहीन=मार्ग-रहित
विकृत=बदशकल
हास=हँसी
अस्तित्व=मौजूदगी
क्रीड़ास्थल=खेलने की जगह

२७१ पृष्ठ

स्मृति=याद
उपवन=बगीचा
समीप=नज़दीक
प्रतिबिम्ब=परछाईं
कुसुम-दल=फूलों के पत्ते
मंजु=सुन्दर
उज्ज्वल=उजला
कलुष=कालापन, पाप
अधःपतन=विनाश
अटन=सैर

२७२ पृष्ठ

वसुधा=पृथ्वी
प्रस्थान=जाना
नृत्य=नाच

२७४ पृष्ठ

निमंत्रण=न्यौता
तीर=किनारे
वक्ष=छाती
बाहु=हाथ
सागर=समुद्र
प्रभंजन=तेज़ हवा
केश=बाल
शून्य=सूनापन
उदधि=समुद्र
प्रतिच्छायित=प्रतिबिम्बित

२७५ पृष्ठ

विश्व=जगत
सम्मिलित=इकट्ठी
शुष्क=सूखे
धरा=पृथ्वी
व्यथा=दुःख
धरणि=पृथ्वी
लीन=लुप्त
विनिर्मित=बना हुआ

२७६ पृष्ठ

उच्छ्वास=निःश्वास
उपेक्षा=अपमान, बेपरवाही
पात्र=बर्तन

तरल=गीला
मरु=रेगिस्तान
सर=तालाब=
निशा=रात
२७७ पृष्ठ
परिपूर्ण=पूरा भरा हुआ
सहसा=एकदम
तम=अंधकार
प्रासाद=महल
ज्योति=प्रकाश
गूढ़=गहरे
उन्मत्त=मतवाला
नर्तन=नाच
२७८ पृष्ठ
मौन=चुपचाप
कर्ण=कान
पुष्प-वर्षण=फूल बरसना
दीर्घ=गहरा
२७६ पृष्ठ
हर्ष=खुशी
रत्नागार=जवाहिरात का खजाना
गर्व=अभिमान
अर्पण=देना
अंबुधि=समुद्र
२८० पृष्ठ
जगती=दुनिया
प्रस्थान=जाना

२८२ पृष्ठ
उद्दाम=अनियन्त्रित
उर-उमंगें=हृदय की लहरें
प्रवंचन=धोखा
पोत=जहाज
२८३ पृष्ठ
प्राची=पूर्वदिशा
२८६ पृष्ठ
रजनी=रात
विच्छेद=वियोग, अलग होना
विश्राम=सुस्ताना
विघ्न=बाधा
कृतज्ञ=अहसानमंद
२८७ पृष्ठ
तडित=बिजली
अनुक्रम=नियम
पथ=मार्ग
२८८ पृष्ठ
स्वच्छन्द=स्वतंत्र
मेखलाएँ=कटिबंध, सीमाएँ
नियति=भाग्य
मूढ़=मूर्ख
विरह=जुदाई
कारावास=जेलखाना
रैन=रात
२६० पृष्ठ
प्रश्न=सवाल
परिचय=पहिचान
रजनी=रात